गोदना चित्र-शैली

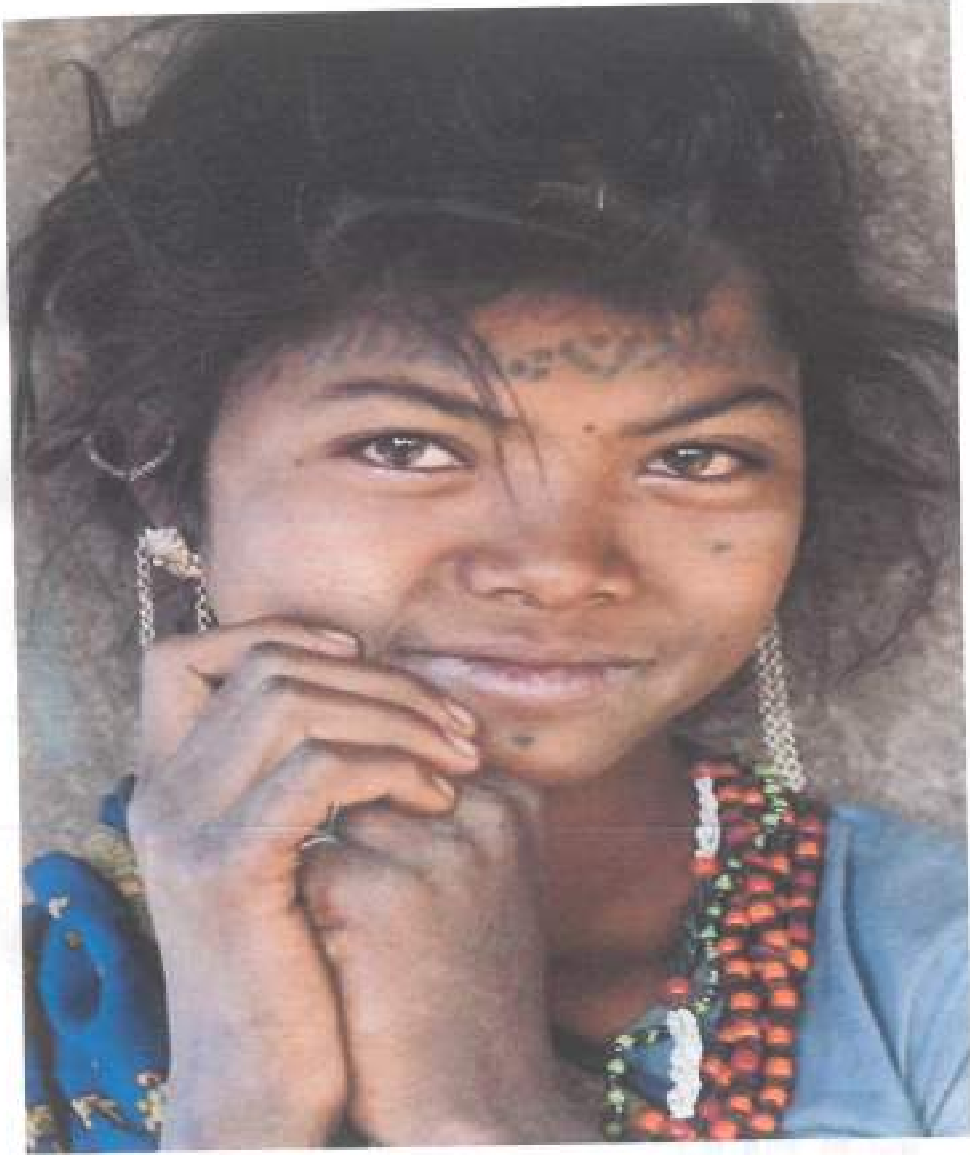
(भाग-पाँच)



कृष्ण कुमार कश्यप

गोदना चित्र–शैली

(भाग – पाँच)



कृष्ण कुमार कश्यप

कला संजिवनी

बरहेता, लहेरिया सराय, दरभंगा।

संस्करण : जून, 2018
द्वितीय संस्करण नवम्बर, 2021

लेखकीय संपर्क : (मोबाइल) 99 31 66 59 39
e-mail : kashyapkk15@gmail.com

मूल्य : सात सौ रुपये मात्र

प्राप्ति–स्थान :
(1) कला संजिवनी, बरहेता, लहेरियासराय, दरभंगा
मो 9931665939
(2) भारती विकास मंच, बरहेता

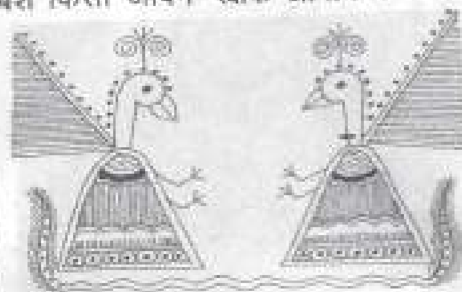


फोटो – के के कश्यप

गोदना चित्र–शैली

भूमिका

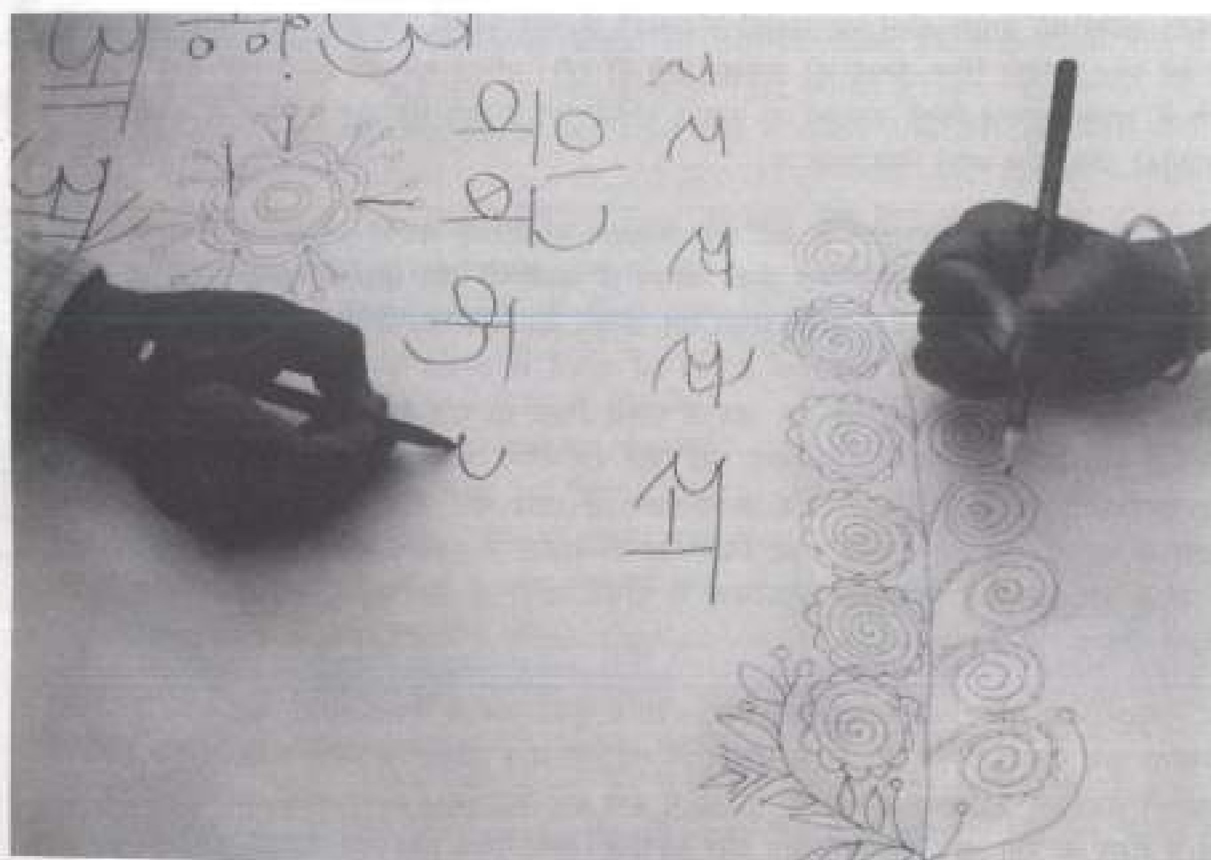
किसी पुस्तक की भूमिका से तात्पर्य उस पुस्तक से सम्बंधित उन सूचनाओं को रखना है, जिनका सम्बंध पुस्तक के निर्माण से होता है। खास कर, किसी लोक कला–विषय पर पहली बार अकादमिक के साथ ही व्यावसायिक पुस्तक लिखना अपन आप में एक जटिल कार्य होता है;उसमें भी, पुस्तक लिखने का उद्देश्य यदि जन साधारण को आजीबिका उपलब्ध कराना हो, तब तो यह और भी जटिल हो जाता है। ऐसी पुस्तकों के प्रणयन की प्रक्रिया कमोबेश किसी जीवन–रक्षक औषधि के निर्माण जैसी ही होती है; परिकल्पना करना, उसे क्रमबद्ध करना, लोक–दक्षता के पैमाने पर उसका परीक्षण करना, उत्पादन के लिए डिजाइन की परिकल्पना करना, बाजार का निर्माण करना, व्यापारिकरुझानों का अध्ययन करना और अन्त में उसे उत्पादन की प्रक्रिया में ढालना। इस पुस्तक के साथ भी इतना कुछ करना पड़ा। वैसे तो **''गोदना''**की परम्परा पर देश और विदेश में कुछ लख लिखे गये है, किन्तु ''गोदना '' को एक विश्व–व्यापी कला–शैली मान कर, समाज के वंचित लोगों के लिए, **''पढ़ाई और कमाई''** की एक विधि विकसित करना, यह भारत के इतिहास में पहली बार यहीं हुआ है। आज बिहार की असंख्य महिलाएँ (और अनेक पुरुष भी) इस कला–माध्यम से आजीविका कमा रहे हैं; अपने आप में यह अनोखा है। इसलिए हम चाहते हैं कि इस पुस्तक के निर्माण की क्या प्रक्रिया रही है, इस पर संक्षिप्त प्रकाश अवश्य डालना चाहिए, ताकि लोक–संस्कृति और आजीविका विषय पर अनुसंधान करने वाले अध्येताओं और लोक–कला को अध्ययन के साथ ही आजीविका का माध्यम बना कर कार्य में लगे लोगों की सहायता हो सके।



दलित समुदाय में प्रचलित कला–परम्परा से पहली बार मैं उस समय प्रभावित हुआ था, जब मेरी आयु मात्रा पन्द्रह वर्षों की थी। उन दिनों मैं एक घटना से ऐसा आहत हुआ कि समाज के वंचित लोगो को साक्षर करने में अपना सम्पूर्ण जीवन लगा देने का निश्चय कर बैठा। उन्हीं दिनों, मैंने अपने गाँव की एक दलित महिला को दीवार पर चित्रा बनाते देखा। उस चित्रा में हाथी पर एक आदमी बैठा था, उसके सामने एक पेड़ था, जिसकी बाँह जैसी फैली डालियों पर पक्षी बैठे थे। इस घटना से पहले, मैंने अपनी माँ को आँगन की भूमि पर, पिसे हुए चावल के श्वेत रंग से, मिथिला–परम्परा के 'अरिपन' बनाते देखा था और ज्यामितिक चिन्हों की मेल से बने विस्तृत आकार के आलेखन को देख कर अचंभित हुआ था। गौर से अरिपन को देखने पर मुझे लगा कि जिन ज्यामितिक चिन्हों, वृत्त, अर्धवृत्त, त्रिभुज, चौकोण और आड़ी–तिरछी रेखाओं के संयोग से अरिपन बना था, आखिर अक्षर भी तो उन्हीं चिन्हों की मेल से बनते हैं। मेरी माँ पढ़ी हुई हैं और मुझे प्रारंभिक शिक्षा माँ से ही मिली थी। पहले तो मैंने समझा कि मेरी माँ पढ़ी–लिखी हैं, इसीलिए ज्यामितिक चिन्हों के प्रयोग से अरिपन चित्रा बना रही हैं, किन्तु जब दूसरी बार किसी दलित महिला को चित्रा बनाते देखा तो मैं सोच में पड़ गया। मैं जानता था कि उन दिनों दलित महिलाएँ और उनका पूरा समुदाय निरक्षर होता था। इसी कारणवश मैं सोचने लगा, क्या, दलित महिला पढ़ी–लिखी है? बिना पढ़ वह चित्रा कैसे बना सकी? दूसरी बड़ी बात जो महत्वपूर्ण थी, और जिसने मेरा मन उस चित्रा की ओर खींचा, वह उस चित्रा का अनोखापन था। उस महिला के चित्रा में बना हाथी, आदमी और पेड़ पुस्तकों में छपे चित्रा जैसे नहीं थे, बिल्कुल अलग दिखते थे। उस महिला के चित्रा में एक सहजता थी, एक अपनापन था, लगता था जैसे उसके चित्रा

बोल–बतिया रहे थे। मुझे लगा, वह चित्रा का घरेलू संस्करण था। अगले दिन उस चित्रा को मैंने अपनी कॉपी पर उतार लिया।

उन दिनों मैं साधारण चित्रों से अक्षर बनाने की सरलतम विधि खोजने में लगा हुआ था, ताकि स्कूल नहीं जाने वाले मजदूर बच्चे आसानी से अक्षर सीख सकें। दलित महिला को चित्रा बनाते देख कर मैं समझ गया कि चित्रा कोई भी आदमी बना सकता है, चाहे वह पढ़ा हो अथवा अनपढ़। इतना तो स्पष्ट हो ही गया था कि चित्रा भी उन्हीं चिन्हों की मेल से बनते हैं, जिन चिन्हों से अक्षर बनते हैं। इसी अवधारणा के आधार पर मैंने चित्रा से अक्षर बनाने और अक्षरों को उनके मिलते–जुलते आकार वाले अक्षरों के समूह में रखने, जैसे **उऊ अ आ/ ओ औ अं अः/ व ब क ख** आदि के आधार पर सजाने के बाद अपने तरह की एक वर्णमाला तैयार की थी। इस पद्धति में साधारण चित्रा को तोड़ कर अक्षर बनाये गए थे। इस वर्णमाला का मजदूर बच्चों और स्कूल नहीं जाने वाले बच्चों पर परीक्षण के बाद, मैंने अक्तूबर1965 में, अपने गाँव में ही, बच्चों के लिए एक रात्रि–पाठशाला, "**नाइट स्कूल**" शुरू किया। यहीं से वंचित लोगों के चित्रा–कौशल को मैंने अपना पाथेय बनाया, किन्तु उस समय मैं न तो दलितों, वंचितों और मिहनतकस लोगों की कठोर जीवन–शैली से बहुत परिचित था और न उनकी परम्परागत कलाओं के विशाल संसार को ही नजदीक से जानता था। उस समय मैं सोलह वर्षों का था।



कला–माध्यम के रूप में गोदना के प्रतीकों से पहली बार मेरा साक्षात्कार 1972 में हुआ। उसी वर्ष मेरा विवाह मधुबनी जिले के जितवारपुर गाँव में हुआ था, जिस गाँव से, 1970 ईस्वी में, मिथिला–पेन्टिंग या मधुबनी–पेन्टिंग का बाजारीकरण शुरू हुआ। भारत सरकार का हस्तकला विपणन कार्यालय सन् 1970 में, मधुबनी में खुला। यह कार्यालय चित्रा बनाने में सक्षम महिलाओं को हस्तनिर्मित कागज (22''/32''साइज का) देता था और बने हुए चित्रा को, 1972 ईस्वी में, दस रुपये भाव से खरीद

लेता था। उस समय माना गया कि चूँकि चित्रा बनाने का पारम्परिक व्यवहार कायस्थ और ब्राह्मण परिवारों में ही देखने को मिलता था, इसीलिए हस्तकला कार्यालय शुरू के वर्षों में मात्रा इन्हीं दो वर्ग की महिलाओं को कागज देता था। इन परिवारों में विवाह या मुण्डन (चूड़ाकरण) के अवसर पर, समारोह की विधिक तैयारी के अन्तर्गत, दीवारों पर चित्रा बनाने की परम्परा रही है। कायस्थ परिवार में, बेटे के विवाह के लिए, कागज पर कोबर, बाँस, बर्रे, कमलदह अरिपन और दशावतार (विष्णु के दस अवतार) बना कर उसमें सिन्दूर भर कर ले जाने की अनिवार्य परम्परा है, जबकि कोबर–घर का विशेष रूप से चित्राण ब्राह्मण और कायस्थ दोनों जातियों में परम्परागत है। इसके अतिरिक्त, देवोत्थान एकादशी, गामा–संक्रान्ति और अन्य धार्मिक अवसरों पर भी दोनों जातियों के परिवार में विस्तृत भूमि–चित्राण करने की परम्परा रही है। इस प्रकार, इन दो जातियों की महिलाओं के पास चित्रा बनाने का पारम्परिक कौशल और पौराणिक कथाओं के अथाह विषयवस्तु थे। इसके अलावा, ये महिलाएँ शिक्षित परिवारों से आती थीं जिन्हें कलम पकड़ने का ज्ञान था। खास कर, कायस्थ जाति में परम्परागत रूप से शत प्रतिशत साक्षरता रही है। दूसरी ओर, अन्य जातियों, विशेष कर दलित समुदाय में स्थिति बिल्कुल भिन्न थी। उनके समुदाय में साक्षरता नगण्य थी। उनकी उँगलियों को लेखनी पकड़ने का अभ्यास नहीं था, इसलिए दलित महिलाएँ कलम पकड़ कर कागज पर चित्रा नहीं बना सकती थीं। उनके पास ऐसे परम्परागत विषय भी नहीं थे जिनका चित्राण वे कर पातीं। शायद इन्हीं कारणा से हस्तकला कार्यालय दलित महिलाओं को चित्रा बनाने के लिए कागज नहीं देता था। आखिरकार, कुछ जागरुक दलितों के प्रयास करने पर, उनकी महिलाओं के नाम पर भी हस्तकला कार्यालय कागज का शीट देने लगा, लेकिन चित्रा बंनाने की समस्या बनी ही रही। दलित महिलाएँ चित्रा नहीं बना पाने की स्थिति में, अपना कागज किसी कायस्थ या ब्राह्मण महिला को दे देती थी और ऑफिस से रुपये मिलने पर दोनोंको पाँच–पाँच रुपये मिल जाते थे।

जितवारपुर में, मरे ससुराल से सटे कुछ पासवान दलितों के घर थे। मैं जब जितवारपुर जाता था तब वे दलित महिलाएँ स्नेहवश मुझे अपने आँगन ले जाती थीं और हास–परिहास करती थीं। एक दिन उन दलित महिलाओं से बात करते समय मैंने उनकी बाँहों पर गोदना के सुन्दर चित्रा देखा। मैंने उन्हें बताया कि यदि गोदना के मनमोहक प्रतीकों को कायदे से कागज पर उतार दिया जाय तो बहुत सुन्दर लगेंगे। ऐसा ही हुआ। दूसरी बार जब मैं उनसे मिला तो उन लोगों ने बताया कि गोदना के प्रतीकों से बने उनके चित्रा को बेहतर माना गया और दस रुपये की जगह उन्हें बीस रुपये मिले। यह 1972 ईस्वी की बात है। जल्द ही देह के कैनवास से उतर कर 'गोदना'के अमिट प्रतीक **गोदना पेन्टिंग** के रूप में, नये रूप–रंग के साथ, चित्राकला के बाजार में दमकने लगे। यह चमत्कार देख कर मुझे पहली बार समझ में आया कि लोकचित्रा से वंचित लोगों के लिए**'पढ़ाई के साथ कमाई'** का कार्यक्रम चल सकता है।

दूसरी बार गोदना से मेरा सम्पर्क 1975–'76 में हुआ, जब मैं नेपाल में रह रहा था। उन दिनों पूरा भारत जय प्रकाशजी (जे पी) के आन्दोलन से उद्वेलित था। तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गांधी ने इमरजेन्सी लगा कर प्रजातन्त्रा को अपनी मुट्ठियों में बन्द कर लिया था। आन्दोलनकारियों को पकड़ कर जेलों में ठूँसा जा रहा था। बहुत राजनेता और आन्दोलनकारी युवक भाग कर पड़ोसी देश, नेपाल चले गए। मैं भी नेपाल चला गया। उन दिनों मैं अपने साथ होम्योपैथी दवाओं का एक छोटा बक्शा रखता था और मेटेरिया मेडिका पढ कर मुफ्त में लोगों का इलाज करता था। वहाँ मेरे पड़ोस में एक पासवान दलित परिवार रहता था। उस परिवार से मेरी कुछ नजदीकी थी। एक दिन उस पड़ोसी महिला ने बताया कि उसकी बहन बीमार थी, बुखार लग रहा था। मैं उसे देखने गया। कपड़े से बाहर, उसके पूरे शरीर पर, नये–नये गोदना बने दिखे। गोदना के जख्म से ही उसे बुखार लग गया था। मैं सुबह–शाम उसे देखने अवश्य जाता था। उसका नाम बासमती था। बासमती का विवाह पाँच–सात साल पहले हुआ

था, लेकिन उसके ससुराल वाले गौना करा कर अपने यहाँ नहीं ले जा रहे थे। इसका कारण यह था कि वह "अगोदन" थी। दर्द के डर से उसने अपने शरीर पर गोदना नहीं बनवाया था। हालाँकि हर साल जाड़े में उसके गाँव में गोदना गोदने वाली 'खोधपारनी', नटिनिआ जरूर आती थी, मगर बासमती भाग कर कहीं छिप जाती थी। उसे गोदना करवाने में बहुत डर लगता था। उधर, परम्परा के अनुसार, अन्य जातियों में विवाह से पहले, लड़कियों के लिए, जिस प्रकार गंगा–स्नान आवश्यक माना जाता था, उसी प्रकार दलितों में, लड़कियों का गोदना करवाना आवश्यक होता था। बिना गंगा–स्नान किए लड़की को 'अगंग' और बिना गोदना करवायी दलित लड़की को 'अगोदन' या अपवित्रा कहा जाता था। दलितों में, ऐसी किसी दुल्हन को, ससुराल के रसोईघर में घुसने नहीं दिया जाता था। वह किसी को भोजन या जल नहीं दे सकती थी और न सन्तान उत्पन्न कर सकती थी। इसी नियम के तहत बासमती का गौना नहीं हुआ। बढ़ती उमर के साथ बासमती फूट कर जवान हो गयी, तब उसकी बड़ी बहन ने अपने पास जनकपुर बुला लिया और थारु जाति की गोदनहारिन से, अन्दर–बाहर, उसके पूरे शरीर पर गोदना करवाया। इलाज करते–करते हम दोनों मित्रा हो गए।बासमती ने अपने गोदना के अक्षय भण्डार से मुझे परिचित कराया। मैंने गोदना के अनोखे चित्रा को अपने मन में बसा लिया।

भारत में जब इमरजेन्सी टूट गयी, तब मैं भारत वापस आ गया। कुछ दिनों के बाद मैं दिल्ली चला गया। वहाँ मैंने कचड़ा चुन कर गुजारा करने वाले बच्चों (जिन्हें कचबचिया कहा जाता था) को संगठित किया और अपनी चित्रात्मक विधि से उन्हें साक्षर करने के अलावे उनके लिए बेहतर रोजगार की संभावना खोजने में जुट गया। हमारे समूह में सात वर्ष से पन्द्रह–सोलह वर्ष आयु–वर्ग के बच्चे थे। वे सभी नारकीय जीवन जी रहे थे। दिन भर गली–गली घूमते हुए कचड़ा चुन कर बेचने के बाद भी वे भूखे रहते थे। बीमार पड़ने पर बिना दवा के मरते रहो। ऊपर से पुलिस वालों को "चार आना हफ्ता" नहीं चुकाने पर बेंत की मार। आखिर तय हुआ कि कोई और रोजगार खोजा जाय। दिसम्बर का महीना था। हर तरफ ग्रीटिंग कार्ड बिक रहे थे। मैंने तय किया कि बच्चे कुछ दिन अभ्यास करके गोदना के प्रतीकों से ग्रीटिंग कार्ड बनावें और बेचें। यह 1978 की बात है। बासमती की देह से उतारे गोदना के चित्रा उस अभियान में काम आया। मेरे एक सहयोगी मित्रा ने बच्चों को कागज और रंग खरीद दिया। दूसरे मित्रों ने कुछ दिनों तक बच्चों के खाने का प्रबंध कर दिया। हफ्ते भर के अन्दर बच्चों ने बहुत सारे कार्ड बना कर तैयार कर लिया। लोगों ने उन कार्डों को बहुत पसन्द किया। दाम दो रुपये। बच्चे कलाकार और अध्यवसायी बन गए। मैं बहुत खुश हो कर, अगली व्यापक योजना के साथ घर लौट आया।



दिल्ली में कचबचिया बच्चों को गोदना चित्रा के माध्यम से आजीविका का सम्मानजनक मार्ग उपलब्ध कराने में आंशिक सफलता से मैं काफी उत्साहित था। अब मैं गोदना देह–चित्र का उपयोग व्यापक क्षेत्रा में दबे–कुचले लोगों के उत्थान के लिए करना चाहता था। इसी विचार को ध्यान में रख कर, अगले दो वर्षों तक, गया–बोधगया और हजारीबाग के वृहत्तर भाग में, कई संस्थाओं के साथ मिल कर काम करता रहा। इसी क्रम में, गया जिले के वजीरगंज प्रखण्ड में 'ग्राम निर्माण केन्द्र, घरेया' और गया शहर में 'लोक जागरण केन्द्र' की स्थापना भी की। इस क्षेत्रा में भुइयाँ जाति के दलित बहुतायत में हैं। मिथिला के मुसहर इनसे मिलती–जुलती स्थिति के लोग हैं। समन्वय–आश्रम, बोधगया में कार्य करते हुए मैंने भुइयाँ बच्चों पर गोदना और मिथिला चित्रा के प्रतीकों के माध्यम से कई तरह के शैक्षणिक प्रयोग किया और भुइयाँ स्त्रियों के गोदना से स्वयं भी बहुत कुछ सीखा। अक्तूबर, 1981 आते–आते मैं दरभंगा लौट

आया, उस समय तक जो कुछ जान सके थे, उसका प्रयोग वंचित समुदायों, स्त्रियों के विकास में करने का मन बना कर।



मिथिला मे मैं बालिकाओं और स्त्रियों के लिए काम करना चाहता था, ऐसा काम जिससे उन्हें सम्मानजनक आलीविका और चेतना–विकास के साधन एक साथ उपलब्ध हो सकें, बिल्कुल अपने अनुभव और दम पर। मैं किसी से सहायता या अनुदान लेकर यह कार्यक्रम नहीं चलाना चाहता था। इसके कई कारण थे। मैं सभी जाति की स्त्रियों के लिए काम करना चाहता था। मेरा मानना था कि समाज में पुरुष वर्ग किसी न किसी प्रकार के काम पा लेते थे, किन्तु स्त्रियाँ ही ऐसी थीं जिनके श्रम का कोई आर्थिक मूल्य नहीं लगाया जाता था। लिंग–भेद, जाति–भेद, कर्म–भेद, अनेक प्रकार के भेद और वर्जनाओं के साँकल से बँधी स्त्रियाँ, चाहे किसी जाति की हों, बेवश थीं। लेकिन स्त्रियों को संगठित करना मिथिला जैसे कट्टर पुरुष–प्रधान समाज में आसान नहीं था। दूसरी बात कि यहाँ छूआछूत (अस्पृश्यता) का चलन इतना प्रबल था कि सभी जाति की स्त्रियाँ एक साथ बैठ भी नहीं सकती थीं। ऐसी दशा में, बिना किसी साधन के, केवल अपने निश्चय और साहस के वल पर, इतना बड़ा काम खड़ा करना एक तरह से असंभव था। अपनी पत्नी, श्रीमती शिवा कश्यप के सहयोग के कारण यद्यपि कि मैं पूरा आशान्वित था कि किसी न किसी प्रकार कार्यक्रम जरूर चलता रहेगा, किन्तु जितना जो कुछ सोचा था, वैसा ही सफल भी होगा, इस भरोसे पर मैं किसी का सहयोग लेकर मुश्किल में नहीं पड़ना चाहता था। आखिरकार, बहुत अभाव में, घर के पास एक पेड़ के नीचे, नवम्बर 1981 में, गाँव की ही बालिका विभा, मीरा, शशिबाला और कुछ अन्य बालिकाओं के साथ कार्यक्रम शुरू हुआ। धीरे–धीरे लड़कियाँ जुटने लगीं। उस जमाने में स्त्रियों या लड़कियों के लिए कोई इस प्रकार का संगठन खड़ा करना भयानक सामाजिक अपराध था। गाँव के प्रमुख पुरुषों ने यद्यपि कि महिलाओं के लिए किसी प्रकार का कार्यक्रम चलाने से मना किया था, लेकिन मैंने काम जारी रखा। आखिर, जून 1983 में वह संगठन बिहार सरकार के साथ, भारती विकास मंच नाम से रजिस्टर्ड हो गया। यह मूल रूप से, लोककला विषयों के साथ, "पढ़ाई और कमाई" के विद्यालय के रूप में शुरू हुआ, मात्रा लड़कियो और स्त्रियों के लिए, पूर्णतः निःशुल्क विद्यालय। उस समय मात्रा दो शिक्षक थे, मैं और मेरी पत्नी, शिवा किन्तु पद्धति को सहभागिता–आधारित, पार्टिसिपेटरी रखा गया, अर्थात छात्रा भी शिक्षिका के रूप में, अपने से कनिष्ठ छात्राओं को सिखाती थी। विषय के रूप में उस समय मात्रा मिथिला लोकचित्रा और परम्परागत सुजनी/कशीदा थे। मिथिला लाकचित्रा में उपयोगितावाद का प्रवेश इसी समय हुआ। इससे पहले मिथिला चित्रा में (मधुबनी पेन्टिंग नाम से) मात्रा सजावटी चित्रा बनते थे जिसका एक मात्रा उत्पादन और बाजार मधुबनी में केन्द्रित था, मिथिला के शेष भाग के लोग चित्राकला के व्यावसायीकरण के लाभ से वंचित ही थे। अपने विद्यालय में हमने उपयोगी फैशन सामग्रियों को ही वर्ग बना दिया। थोड़े अभ्यास से लड़कियाँ जितना कुछ सीख लेती थी, उस डिजाइन से छोटी वस्तु, जैसे टेबुल मैट और आगे जा कर, कुशन कवर बनाने लगती थीं। जैसे–जैसे छात्राओं का प्रशिक्षण बढ़ता जाता था, सामान का रेन्ज

भी बढ़ता जाता था।कुशन कवर के बाद दुपट्टे, जैकेट, कुर्ते और अन्त में साड़ियों के उत्पादन का क्रम था।



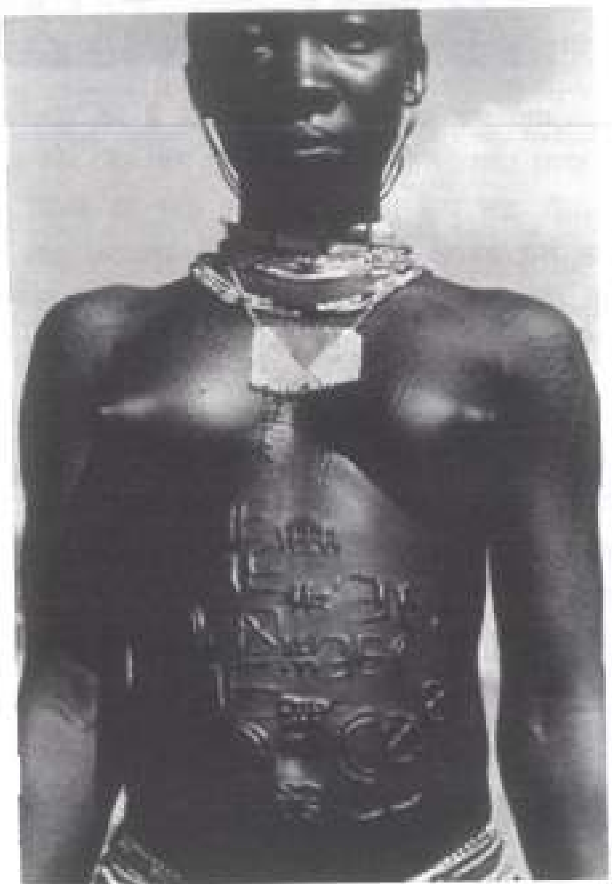
यहाँ एक बात बताना आवश्यक है कि उत्पादन, प्रशिक्षण और बाजार के इतने बड़े काम के लिए हमारे पास किसी प्रकार की पुँजी नहीं थी। मैंने अपनी पत्नी से उसका एकमात्रा गहना मांगा, कान की बाली, और उसे गिरवी रख कर तीन सौ रुपयों का प्रबंध किया। यही हमारी प्रारंभिक पुँजी थी। लेकिन मेरा सम्पर्क देश भर के समाज–सुधारकों और सामाजिक संस्थाओं के साथ था। मैंने लोगों को अपनी योजना बतलायी, सबों ने इसे सराहा और अपना नैतिक समर्थन दिया। परिवर्त्तन का आन्दोलन चल निकला।

जनवरी 1984 से, जब हमारी छात्राएँ बड़ा उत्पादन करने में सक्षम हो गयीं, तब हम महानगरों में आयोजित होने वाली प्रदर्शनियों में भाग लेने लगे। अब गाँव के महापुरुषों ने हमारे विरुद्ध हिंसक अभियान छेड़ा। एक तरफ समाज के ठेकेदारों का विरोध कठोर होता गया, दूसरी ओर एक गाँव से दूसरे गाँव तक इस कार्यक्रम को फैलाने और दूर–दूर तक मिथिला की स्त्रियों को जागरुक बनाने का हमारा अभियान भी तेज होता गया। फैलाव के इस कार्यक्रम की मुख्य भूमिका में यद्यपि श्रीमती शिवा भी थीं, किन्तु दूर–दूर के गाँवों में रहनेवाली दलित महिलाओं तक गोदना–कला से कमाई और शिक्षा का आन्दोलनफैलाने में,लड़की होकर भी, शशिबाला और अनीता दास ने जो साहस दिखलाया, वह अत्यन्त सराहनीय है।

जसा कि पहले ही उल्लेख किया गया है, सामान्य चित्रा का शैक्षणिक उदेश्य से प्रयोग करने के काम में मैं बहुत पहले से जुड़ा था। समय के साथ जो मुद्दा इसके साथ जुड़ा वह था लोक–कलाओं के अकादमिक और जीविकामूलक उपयोग का द्वार खोलना। मिथिला चित्राकला और गोदना चित्राकला के

क्षेत्रा में अनुसंधान, पुस्तक निर्माण के लिए डॉक्यूमेन्टेशन,दोना कलाओं में पहली बार उपयोगितावाद के प्रवर्त्तन और राष्ट्रव्यापी बाजार का निर्माण तथा उपलब्धियों की कथा तो काफी लम्बी है, किन्तु यह एक संयोग ही था कि संस्था को शशिबाला (इस पुस्तक की सह–लेखिका) और अनीता दास जैसी छात्राएँ मिलीं। आगे चल कर इन दोनों बहनो ने गोदना चित्राकला के लिए जो कार्य किया, उसीके फलस्वरूप गोदना देह–चित्रा फैशन–वस्त्रों पर उतरा, असंख्य स्त्रियों की आजीविका का साधन बना और पुस्तक का आकार ले सका।

शशिबाला और अनीता दास ने गोदना के उस समय तक उपलब्ध प्रतीकों को वस्त्रांकन के उद्देश्य से उसका परिवर्द्धन किया। इस दृष्टि से और अधिक देह–चित्रा संग्रह करने की जरूरत थी। संस्था के प्रारंभिक वर्षों में, जब गोदना–प्रतीक पर्याप्त मात्राा में उपलब्ध नहीं था, फैशन–वस्त्रों का उत्पादन केवल मिथिला चित्राकला के माध्यम से होता था। उस समय अनुभव किया गया कि मजदूर वर्ग की महिलाएँ, मुस्लिम महिलाएँ और दलित वर्ग की महिलाएँ मिथिला चित्राकला की शूक्ष्म रेखाओं के अंकन में सफल नहीं हो पा रही थीं।यह चित्राशैली उनके लिए एक तरह से अनजान थी। दूसरी ओर गोदना देह–चित्रा के प्रतीक, मुस्लिम महिलाओं को छोड़ कर, सभी के लिए सुपरिचित थे। अन्ततः यह माना गया कि जहाँ से भी उपलब्ध हो सके, गोदना के अधिक से अधिक प्रतीक सीधे गोदना–धारक स्त्रियों की देह से उतार कर संग्रह किया जाय। इस निर्णय पर अमल 1985 से शुरू हुआ। देश के प्रमुख महानगरों मे आयोजित होने वाली कला–प्रदर्शनियों में संस्था भाग लेने लगी। इन प्रदर्शनियों में इस लेखक के अलावे श्रीमती शिवा, शशिबाला और अनीता दास भाग लेती थीं। अन्य महिला शिल्पी भी बाजार–अध्ययन के तौर पर प्रदर्शनियों में भाग लेती थीं किन्तु शशिबाला और अनोता जब भी इन प्रदर्शनियों में भाग लेने जाती थीं, उन प्रदर्शनियों में भाग लेने वाली आदिवासी महिला शिल्पियों की देह पर से गोदना के प्रतीकों का संग्रह करके जरूर लाती थी। दूसरी ओर, मिथिला के गाँवों में घूम कर, दोनों बहनें दलित महिलाओं के शरीर पर गुदे गोदना का संग्रह भी करती थीं। यहाँ तक कि, दरभंगा क्षेत्रा में जिस किसी इलाके में घुमन्तू जाति के लोग, जिन्हें स्थानीय भाषा में करोड़िया कहते हैं, आ कर अपना शिविर लगाते थे, उनके साथ मेल–जोल बढ़ा कर, उनके शरीर पर बने गोदना का संग्रह भी ये दोनों बहनें करती थी। यह अत्यन्त कठिन कार्य था। इस प्रकार, 1987 ईस्वी तक हमारे पास गोदना का यथेष्ट संग्रह हो गया। मैंने कुछ अफ्रिकी महिलाओं का गोदना फोटोग्राफ्स उपलब्ध किया। अफ्रिकी महिलाओं के शरीर पर गोदना के पर्याप्त चिन्ह होते हैं, जिन्हें डिजाइन सामग्री के रूप में ढालने का काम शुरू हुआ। इन सामग्रियों के आधार पर पहली बार 1987 में, "गोदना चित्रा–शैली" नाम से इस पुस्तक का साइक्लोस्टाइल्ड संस्करण तैयार हुआ। इस संस्करण की तैयारी में इस लेखक के अतिरिक्त शशिबाला के साथ अनीता दास की अहम भूमिका रही है।



गोदना के प्रतीकों का यथेष्ट संग्रह होने के बाद अब प्रारंभ हुआ उनका डॉक्यूमेन्टेशन। इस क्रिया से प्रतीकों का परिष्कार भी होता चला गया। इसके बाद, प्रशिक्षण और उत्पादन के लिए पुस्तक की रचना का काम शुरू हुआ। इस क्रम में अनुभव हुआ कि मिथिला चित्राकला और गोदना चित्राकला के प्रतीकों का यदि परस्पर विलयन किया जाय तो एक विलक्षण शैली का जन्म होगा जिसका प्रभाव बाजार पर बहुत मजबूत होगा, साथ ही सभी जाति–वर्ग की छात्राएँ मिश्रित शैली के प्रतीकों को बनाते–बनाते दोनों शैलियों में काम करने में सक्षम हो पायेंगी। शशिबाला और अनीता दास ने तत्परता से यह कठिन काम भी पूरा किया।इस लेख लिखने के पीछे लेखक (कश्यप) का जो अन्तर्निहित उद्देश्य है, वह है शिक्षा–शास्त्रियों, समाज–शास्त्रियों और सरकारी तन्त्रा के समक्ष एक ज्वलन्त प्रश्न, बहुजन वंचित समाज की साक्षरता और रोजगार की समस्या के समाधान का एक अनोखा उदाहरण रखना। हमने ऐसे लोगों की शिक्षा और शिक्षा के साथ ही रोजगार का माध्यम उनकी परम्परागत कला को बनाया, जिससे उनका परिचय बहुत पुराना होता है, ज्ञान और व्यवहार की ऐसी विधा जो उनका सहजात है। वे अपनी उस कला की भाषा को, दूसरों के लिए भले ही शब्दों में व्यक्त नहीं कर पावें, किन्तु वे परस्पर बतियाते हैं। वे लोककला के स्वरूप और रंग–रूप कोवैसे ही पहचानते हैं, जैसे एक अवाचक शिशु दूसरे शिशु के मनोभावों को पहचानता है। वैसे तो आज भी हमारे समाज के बहुसंख्यक लोग निरक्षर है, किन्तु सन् 80 के दशक में तो यह समस्या और भी विकराल थी। कहने के लिए, हमारी सरकारें हर साल वंचित लोगों को साक्षर करने के नाम पर अरबों–खरबों की राशि खर्च करती है, किन्तु इसका परिणाम खर्च के अनुपात में नगण्य ही होता है। इसका पहला कारण तो सरकारी महकमों में व्याप्त स्थायी भ्रष्टाचार है। दूसरा कारण है, साक्षर करने की अनुपयुक्त विधि, जिसे परम्परागत रूप से निरक्षर समुदाय अपना नहीं पाते हैं। हमने गोदना देह–चित्रा का उपयोग पिछड़ी, दलित और मुस्लिम समूह की लड़कियों के लिए जानबूझ कर दोहरे उद्देश्य से किया — देह–चित्रा के प्रतीक उनके जाने–पहचाने थे, जिनका अंकन कलम से करते हुए वे आसानी से अक्षर–लेखन की ओर जा सकती थीं, और ऐसा ही हुआ। भारती विकास मंच के तत्वावधान में कला–प्रशिक्षण और उत्पादन के केन्द्र दरभंगा और मधुबनी जिलों के सुदूर गाँवों तक खोले गय। इन सभी 23 केन्द्रों पर दलित वर्ग, मजदूर वर्ग, तमाम पिछड़े वर्ग और मुस्लिम जाति की बालिकाएँ गोदना–शैली के चित्रा के साथ ही साक्षरता का भी अभ्यास करती थीं। यह कला के माध्यम से "पढ़ाई के साथ कमाई" का कार्यक्रम था। हम छात्राओं से किसी प्रकार की फीस या शुल्क नहीं लेते थे, जिस कारण निर्धनतम महिलाएँ और बालिकाएँ भी इस माध्यम से शिक्षा और रोजगार पा सकीं। दूसरी बात कि कुशल शिल्पियों द्वारा तैयार सामग्रियों को बेच कर जो लाभ प्राप्त होता था, उसका बड़ा भाग तो शिल्पियों में बँट जाता था, किन्तु एक अंश उन प्रशिक्षु छात्राओं को भी दिया जाता था जो प्रारम्भिक अवस्था में किसी प्रकार का उत्पादन करने योग्य नहीं होती थीं। इसका परिणाम यह हुआ कि गाय–बकरी चराकर, लकड़ी चुन कर अथवा ईट–भट्ठे में कड़ी मिहनत कर या घास छीलकर छोटी आमदनी करने के काम में लगी लड़कियाँ बेहतर आमदनी की संभावना देख कर इस कला–प्रशिक्षण के कार्यक्रम से जुड़ने के लिए तैयार हो गयीं।



गोदना–देहचित्रा के चिन्हों और प्रतीकों का मिथिला–शैली के प्रतीकों के साथ विलयन करने के बाद एक अभिनव डिजाइन की रचना हुई। इस डिजाइन से टेक्सटाइल डिजाइनिंग का क्रम इस प्रकार बनाया गया कि छात्राा छोटी वस्तुओं (कपड़े) पर चित्राकन करते हुए, बढ़ती दक्षता के साथ, बड़ी वस्तुओं के उत्पादन में लग जाँय। कपड़े पर यह क्रम टेबुल मैट से प्रारंभ होकर कुशन कवर, कुर्त्ता, जैकेट, दुपट्टा और साड़ी तक जाता था। साड़ी–चित्रांकन में दक्ष होने के बाद सजावटी चित्रा (वाल हैंगिंग) बनाने का सिलसिला शुरू होता था। दलित या पिछड़ी जाति की छात्राएँ जब गोदना चित्राकला में दक्ष हो जाती थीं, तब उन्हें मिथिला शैली के चित्रांकन या वस्त्रांकन में भी लगाया जाता था, ताकि उनके पास काम के अवसर की कमी कभी नहीं हो पावे। मिथिला और गोदना–शैलियों में बने फैशन आइटम भारतीय कला–बाजार के नये आकर्षण थे, जिसकी चमक आज भी बरकरार है और बढ़ती ही जा रही है।

सन् 1995 में, अनौपचारिक शिक्षा मंत्रालय ने मुझे कला के माध्यम से साक्षरता की विधि लागू करने हेतु आग्रह किया। मैंने व्यापक क्षेत्रा में अपने प्रयोगों को लागू करने की संभावना देख कर स्वीकृति दे दी। मैं अपने दल के साथ, बिना किसी प्रकार का वेतन या पारिश्रमिक लिए, अनौपचारिक शिक्षा–निदेशालय के साथ जुड़ गया। उस दल में शशिबाला, अनीता दास, विनीता, ऋचा गोर्की (संगीता) मुख्य थीं। उन दिनों, पटना में, अनौपचारिक शिक्षा के दस विशेष केन्द्र थे। हमने पटना सहित राज्य (झाड़खण्ड समेत) भर के समस्त शिक्षाकर्मियों और अधिकारियों को मिथिला और गोदना–शैली पर आधारित शिक्षण–विधि में प्रशिक्षित करने के अलावा साक्षरता–केन्द्रों पर साक्षरता के साथ रचनात्मक उपायों पर विशेष प्रशिक्षण दिया। इस क्रम में हमने लोक–कला के प्रतीकों से, साक्षरता–कार्यक्रम को

चालू रखने के उपायों पर कई उदाहरण प्रस्तुत किया। दीन–हीन परिवारों में सभी बच्चों को स्लेट–पेन्सिल उपलब्ध कराना कठिन होता है। इस कठिनाई के निवारण के लिए हमने दीवारों पर ही गोदना के प्रतीकों से, नर्सरी आयु के बच्चों को, अक्षर बनाने की ओर प्ररित किया। यह कार्य जितना ही रोचक था, उतना ही समाधानकारक भी। इसी अभियान के तहत, शिक्षा के प्रति सार्वजनिक उत्साह बढ़ाने के लिए, हमने अनेक नारे बनाए —— **''आधी रोटी खायेंगे, फिर भी स्कूल जायेंगे।'' ''गैया–बकरी चरती जाय, मुनिया बेटी पढ़ती जाय।''** अनौपचारिक शिक्षा विभाग ने इन सभी नारों को बिहार (और झारखण्ड के) के तमाम सरकारी स्कूलों की दीवार पर अंकित करवाया। अपने नारों को बिहारके वातावरण में गूँजता देख कर हम बहुत खुश थे, यही हमारा पारिश्रमिक था। अहर्निश सेवा करते हुए हम शिक्षा निदेशालय के साथ लगभग डेढ़ वर्ष तक जुड़े रहे। मेरी पहली पुस्तक, ''माछभात'' की रचना वहीं रहते हुई।

भारती विकास मंच का कला–शिक्षण कार्यक्रम वस्तुतः समाज के अन्तिम पायदान पर युगों–युगों से खड़े, समाज के दबे–कुचले, शोषित–उपेक्षित लोगों के अभ्युत्थान का, शिक्षा के साथ ही उनकी रोजी–रोटी के सवालों का निदान खोजने के लिए शुरू किया गया था। ऐसे लोगों की आर्थिक और सामाजिक दशा में बदलाव लाने के लिए मैंने गोदना–देहचित्रा और मिथिला लोकचित्रा को साधन बनाया। मुझे सन्तोष है कि इन समुदायों की दशा में आन्दोलनकारी परिवर्त्तन लाने में यह कला–माध्यम बहुत सफल हुआ। आज सभी जाति की हजारों महिलाएँ, पूरे बिहार में और बिहार से बाहर अन्य राज्यों में, जहाँ कहीं भी गयी हैं, इस कला–विधि से उपार्जन कर रही हैं। वे हर जगह साड़ी, कुर्त्ते, दुपट्टे बनाने का काम पा लेती हैं। इतना कुछ होने के बाद भी बिहार की सरकारों ने कभी ऐसे उपायों की न तो सराहना की और न कभी ऐसे प्रयास में लगे लोगो की सहायता ही की। यह अत्यन्त दुःखद स्थिति है। काफी लम्बे समय तक गोदना डिजाइन की साइक्लोस्टाइल प्रतियों से ही इतना काम होता रहा। अब जा कर इसका मुद्रण कराना संभव हो सका है। इससे दूर–दूर तक की शिल्पी लाभान्वित हो सकेंगी।तथास्तु!

विजयादशमी,24 अक्तूबर, 2012 — कृष्ण कुमार कश्यप



गोदना चित्राशैली

"गोदना"का क्रियात्मक अर्थ होता है, धातु के किसी उपकरण को शरीर में गहरे चुभोना, भोंकना , किन्तु समाज–शास्त्रीय अध्ययन में 'गोदना' देह–चित्राण की एक वैश्विक कला है। इस रूप में, जब किसी सूई या अन्य धात्यिक उपकरण से वाह्यचर्म से नीचे तक चुभो कर उसमें रंग भरा जाता है, ताकि इच्छित आकार उभरे, तब इस प्रकार बने रूपांकन को गोदना कहा जाता है। गोदना के रंग अमिट होते हैं।

गोदना का अंग्रेजी समानार्थी शब्द "टैटू" (Tattoo) है। इसका प्रयोग विश्व की अनेक संस्कृतियों में हजारों वर्षों से होता रहा है। भारत समेत, विश्व की आदिम संस्कृतियों में, शैलचित्रों, गुफाचित्रों से इसका अवशेष माना गया है। जापान के मूलवासी, ऐनू जनजाति, अपने चेहरे पर गोदना का चित्राण हजारों वर्षों से करते रहे हैं। आज भी उत्तर अफ्रिका की तमज्गा हज्जाम जाति, न्यूजीलैण्ड की माओरी जनजाति, उत्तरी नाइजीरिया क हौसा आदिवासी, पूर्वी तुर्की के अरब आदिवासी,ताइवान के अटयाल आदिवासी और भारतीय दलित तथा आदिवासी–वनवासी अपने चेहरे पर गोदना का चित्राण करवाते हैं।

गोदना या टैटू भारतीय उपमहाद्वीप के अतिरिक्त पॉलिनीशियाई और ताइवान के कुछ आदिवासी समूहों, फिलिपाइन, बॉर्नियो, मेन्टावाइ द्वीप–समूह, अफ्रिका, उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका, मेसोअमेरिका, यूरोप, जापान, कम्बोडिया, न्यूजीलैण्ड और माइक्रोनेशिया के क्षेत्रा में आधुनिक समय में व्यापक रूप से प्रचलित है। वास्तव में, ग्रेटब्रिटेन के द्वीप–समूह का नामाकरण ही टैटू के आधार पर हुआ है, ब्रीटन लोग, जो ब्रीटेन के उत्तरी भाग के मूलवासी थे और अपने पूरे शरीर पर चित्रा या तरह–तरह के डिजाइन बनवाते थे, जिन्हें "चित्रित मानव" भी कहा जाता था, ब्रीटेन के नामाकरण का आधार बना। आज भी यूरोप में सबसे अधिक ब्रीटिश लोग ही गोदना करवाते हैं। भारत में वैसे तो पूरे देश में गोदना लोकप्रिय है, किन्तु बस्तर (छत्तिसगढ़) के आदिवासियों का गादना तो विश्व प्रसिद्ध है।

इजिप्ट, ग्रीनलैण्ड, साइबेरिया और न्यूजीलैण्ड से मिले साक्ष्य बताते हैं कि गोदना का प्रचलन हजारों वर्ष पुराना है, किन्तु जिस प्रकार संसार के अलग–अलग भागों में रहने वाले लोगों के जीवन विविधतापूर्ण हैं उसी प्रकार उनके द्वारा प्रयुक्त गोदना के प्रयोजन और अर्थभी विविधता से भरे हैं। अक्तूबर, 1991में, विदेशी समाचारपत्रों में, एक समाचार काफी सुर्खियों मे आया। समाचार यह था कि इटली और ऑस्ट्रिया के बीच आल्प्स पर्वत पर बर्फ में दबा एक परिरक्षित शव, ममी, मिला था। चुँकि वह शव वर्फ में काफी नीच दबा पड़ा था, इसलिए वह शव, उसके कपड़े और शस्त्रा पूर्णतः सुरक्षित थे। शव के साथ तीर–धनुष, काँसे की एक कुल्हारी और आग जलाने वाला चकमक पत्थर का एक टुकड़ा

था। प्रकट रूप से, वैज्ञानिकों ने अनुमान लगाया कि वह कोई शिकारी था जो संभवतः घर लौटते वक्त बर्फ की आँधी में, बर्फ में दब कर मर गया। कार्बन विधि से ज्ञात हुआ कि वह शव 5,300 वर्ष पुराना था। उसके शरीर पर कुल 58 गोदना के चिन्ह थे, बिन्दी और सरल रेखाएँ। उक्त शव को समाज–वैज्ञानिकों ने 'हिम–मानव' या 'ष्मउंद' नाम दिया। माना गया कि उस हिममानव के शरीर पर गोदना का पाया जाना मात्रा एक संयोग नहीं था, बल्कि उन दिना वास्तव में गोदना की प्रथा पूर्ण प्रचलन में थी।

एक ममी (परिरक्षित शव) पाज़िरिक, रूस में प्राप्त की गयी। काला सागर के उत्तर में प्राचीन साइदियन जनजाति का क्षेत्रा था। अनुमान है कि वह ममी किसी साइदियन सरदार की थी। उस शव की दाँयी बाँह पर सघन रूप से गोदना के चित्रा बने थे। यह शव 2,500 वर्ष पुराना था। इस शव के गोदना में, वक्र रेखाओं से बने पशु और मछली के चित्रा बने थे। पश्चिमी चीन के तारिम घाटी, जिनजियांग क्षेत्रा में कई ममी पायी गयी जिन पर गोदना बने हुए थे। उनमें से कुछ ममी ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी की थीं। एक गोदना–युक्त ममी (लगभग 300 वर्ष ईसा पूर्व की) अल्ताई में प्राप्त की गयी जो स्थायी बर्फ में दबी पड़ी थी। उसकी पीठ पर मछली तथा बिन्दी गुदे हुए थे। इस बात के पर्याप्त साक्ष्य मिले हैं कि इजिप्सियन महिलाओं के शरीर पर गोदना होते थे। 4,000 – 3,500 ईसा पूर्व की कुछ लघुमूर्तियों पर भी गोदना के चित्रा बने हुए थे। इन मूर्तियों की जाँघ पर गोदना देखे गए हैं। यूरोप में गोदना से सम्बंधित जानकारी प्राचीन ग्रीक और रोमन इतिहासकारों और खोजी जहाजियों के विवरण से फैली। यह भी संभव है कि गोदना की संस्कृति 12,000 वर्ष पूर्व के अन्तिम हिम–युग से भी पूर्व में रही हो।



मनुष्य हजारों वर्षों से अपने शरीर पर गोदना बनवाते रहे हैं। ये अमिट देह–चित्रा कभी सामान्य, कभी अलंकृत किन्तु सदैव व्यक्तिगत – कभी ताबीज की तरह, कभी प्रतिष्ठा के प्रतीक के रूप में, कभी प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में, धार्मिक विश्वास के चिन्ह के रूप में, कभी साज–सज्जा के रूप में, कभी अपराधी होने के अमिट प्रमाण के रूप में तो कभी संगठन–विशेष के साथ सम्बद्धता के चिन्ह के रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से अंग्रेजी का 'टैटू' श्ब्द दो पदा के मेल से बना है – पॉलिनीशियन शब्द जंए जिसका अर्थ किसी चीज पर आघात करना होता है; और दूसरा ताहितियन शब्द जंजंनए जिसका अर्थ चिन्हित करना होता है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में, हमारा मानना है कि गोदना और गुफा–चित्रा का विकास एक साथ हुआ है, जिसमें कुछ बीज–चिन्हों का बारम्बार पयोग हुआ है। भारतीय गोदना के सम्बंध में आगे विस्तृत उल्लेख किया जायगा।

चीन में गोदना–परम्परा का चलन कम से कम 3,500 वर्ष पुराना है। उन दिना चीन में झाउ राजवंश (1045 ई॰ पू॰ से 256 ई॰ पू॰) का शासन था। अभी तक जो साक्ष्य मिले हैं, उसके अनुसार उस काल में, चीन में, गोदना का प्रयोग अपराधियों और डाकुओं को नियंत्रित करने के लिए किया जाता था। अन्तिम चीनी राजवंश, क्विंग राजवंश (1644 से 1912 ई॰ सन) में भी अपराधियों के चेहरे पर कुछ चीनी अक्षर, अपराध के अनुसार, गोदे जाते थे। गलामों के चेहरे पर भी गोदना के चिन्ह बनाए जाते थे जिस कारण वे मृत्यु पर्यन्त गुलामी के बंधन से मुक्त नहीं हो पाते थे, किन्तु इस सबसे पृथक, चीनी साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं में गोदना को रहस्य, रोमांच, साहस और सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में प्रयोग किया। चायनीज साहित्य के चार प्रसिद्ध उपन्यासों में गोदना का उल्लेख

प्रमुखता से हुआ है। "वाटर मारजिन" के तीन मुख्य चरित्रा लु झिसेन, सी जिन और यान चिंग के पूरे शरीर पर गोदना बना हुआ था। वु सांग ने अपने भाई की मौत का बदला लेने के लिए, झी मेनकिंग को मारने के बाद, अपने चेहरे पर गोदना चित्रित करवाया, जिसके लिए उसे सजा दी गयी। इसके अतिरिक्त, चीनी दन्तकथा में, सांग राज–काल के एक प्रसिद्ध सेना–नायक का उल्लेख हुआ है जिसने अपनी पीठ पर " जिंग झाँग बाओ गु" शब्द गोदवा कर सेना में भरती होने गया, ताकि उसे हमेशा याद रहे कि "विशुद्ध राजभक्ति से अपनी मातृभूमि का ऋण चुकाना है।" मार्को पोलो ने क्वांझो शहर का उल्लेख करते हुए लिखा कि ऊपरी भारत से अनेक लोग अपने शरीर पर सूई से चित्रा बनवाने के लिए उस जगह जाते थे, क्योंकि इस कला में उस शहर के अनेक लोग निपुण थे।

फिलीपाइन्स प्रशान्त महासागर में 1,15,600 वर्ग मील क्षेत्रा पर फैला हुआ 7,083 द्वीपों का एक समूह है। इस द्वीपसमूह के लगभग 466 द्वीप ही ऐसे हैं, जो एक मील या उससे कुछ बड़े विस्तार वाले हैं तथा केवल एक तिहाई द्वीप ऐसे हैं जिनका नामकरण हुआ है। लूजॉन और मिंडानाओ द्वीप मिल कर समस्त भूभाग के दो–तिहाई भाग पर फैले हुए हैं। इन द्वीपों की रचना ज्वालामुखी की राख, मूँगो या पर्तदार श्रेणियों द्वारा हुए हैं। इस द्वीप–समूह की खोज स्पेन के जहाजी फर्डीनेंड मैगेलन ने 16 मार्च, 1521 में की थी। यह 3 जुलाई, 1946 ई० तक स्पेन, संयक्त राज्य अमेरिका और जापान के अधीन था, परन्तु 4 जुलाई, 1946 को यह एक गणतंत्रा देश हो गया। यहाँ के मूल निवासी 'एटसरा' नामक आदिवासी हैं। अन्य आदिवासी जातियों में मोरो और इग्रटे प्रमुख हैं। इन तीना जनजातियों के जीवन में गोदना का विशेष महत्व है। उत्तरी लूजॉन क्षेत्रा के बुन्टोक, इगोरोट, कलिंग और इफुगाओ जनजातियों में गोदना एक जटिल संस्कार के रूप में परम्परागत है। इन समूहों में बनने वाले गोदना रंगीन नहीं होते बल्कि ये लोग तेज धार वाले चाकू से त्वचा को महीन–महीन काट कर गोदना बनाते हैं। यहाँ के आदिवासी स्पेनी और अमेरिकी लोगों के साथ उनके देश गए और वहाँ गोदना का फैलाव किया।



जापान में गोदना का चलन आध्यात्मिक और सजावटी दोनो दृष्टियों से, लगभग 10,000 ई॰पू॰ से अस्तित्व में था। यहाँ गोदना के मुख्य प्रयोगकर्त्ता ऐनू जनजाति के मूल निवासी थे, किन्तु अन्य समुदायों मे भी गोदना हमेशा से लोकप्रिय था। 300 ई॰पू॰ में जापान जाने वाले चीनी पर्यटकों ने अपने यात्रा–विवरण में जापानी गोदना का विस्तृत उल्लेख किया है। 1603 और 1668 के मध्य जापानी गोदना का उपयोग मात्रा "उकीयो–ए", जल पर नौका बना कर वास करने वाली एक जनजाति, के समूहों में सीमित हो गया। इस काल मे गोदना का व्यवहार शारीरिक श्रम करने वाले और वेश्यावृत्ति में लगे लोगों द्वारा किया जाता था और गोदना उनकी हैशियत का संकेत करता था। सन् 1720 से पूर्व, कहा जाता है कि जापान में अपराधियों का दोष सिद्ध होने के बाद उनके नाक और कान



काट दिए जाते थे। सन् 1720 और 1870 के मध्य ऐसे अपराधियों के नाक–कान काटने के स्थान पर उनके चेहरे पर गोदना बनाने का रिवाज शुरू हो गया। इस प्रकार के अमिट अपराध–चिन्ह के साथ वे जहाँ कहीं जाते थे, उनका तिरष्कार होता था। आखिरकार, 'मेजी' सरकार ने इस प्रथा को क्रूर और अपमानजनक मान कर बंद कर दिया। लेकिन तब तक बहुत देर हो चुकी थी। ऐसे असंख्य लोग समाज में भरे पड़े थे जिनके चेहरे दागदार हो चुके थे। अपराध–सूचक गोदना के कारण एक तरह से वे समाज से पृथक, वहिष्कृत जीवन जी रहे थे। वे 'स्वामी–विहीन', सरकार–विहीन थे। न उनकी कोई सरकार थी और न समाज। इनमें से अधिकांश समुराई योद्धा थे। सभ्य समाज में इनके लिए कोई स्थान नहीं रह गया था। सबको दिखने वाले गोदना के कारण वे समाज की मुख्य धारा से कट कर रहते थे और अन्ततः अपराधी–समूह के रूप में संगठित होने लगे। ये लोग अपने शरीर पर संगठन के चिन्ह के रूप में गोदना बनवाने लगे, जिसे ये कपड़े के भीतर छिपा कर रखते थे। यह आज भी उसी रूप में, अधिक विशाल माफिया–संगठन के रूप में, याकूजा नाम से, कायम हैं और जापान के सभ्य समाज के लिए एक चुनौती बने हुए हैं। इससे पृथक, कुछ लोग शौक से भी पूरे शरीर पर रंगीन गोदना करवाते हैं।

परम्परागत जनजातीय समाज में, आज भी, किसी व्यक्ति के एक स्तर से दूसरे स्तर में प्रवेश को पारगमन की तरह देखा जाता है और इस पारगमन को कुछ विशेष कर्मकाण्डों और धार्मिक विधियों द्वारा चिन्हित किया जाता है। ऐसे कबीले का पूर्ण सदस्य बने रहने के लिए, इससे सम्बद्ध औचित्य और दायित्व को पूरा करने के लिए, कठिन परीक्षा से गुजरना पड़ता है; ऐसा नहीं है कि मात्रा आयु हो जाने के कारण ही कोई व्यक्ति कबीले में नया स्तर प्राप्त कर ले। बचपने से युवा स्तर में पारगमन भी एक ऐसा ही महत्वपूर्ण अवसर है जब आदिवासी समाज के किसी पुरुष या स्त्री के लिए कुछ सांस्कारिक विधियों को पूरा करना अनिवार्य होता है। इन्हीं धार्मिक विधियों को पूरा करने के बाद समाज में उसका स्थान तय होता है।

ऑस्ट्रेलिया के एबोरीजनल (आदिवासी) के जीवन के एक स्तर से दूसरे स्तर में पारगमन, जैसे जन्म, जवानी, विवाह, पितृत्व और मृत्यु, इन सभी अवसरों पर कबीले क सदस्यों के लिए कुछ धार्मिक आचरण निर्धारित किए गये हैं, जैसे हमारे समाज में विवाहादि संस्कार होते हैं। इन विधियों के सम्पादन

से किसी सदस्य का जीवन के अगले स्तर में मात्र प्रवेश ही नहीं होता है बल्कि ये सांस्कारिक विधियाँ उस सदस्य को आने वाले जीवन में बड़ परिवर्त्तन के साथ आने वाली व्यक्तिगत चिन्ताओं और तनावों को समझने में भी सहायता करती है।



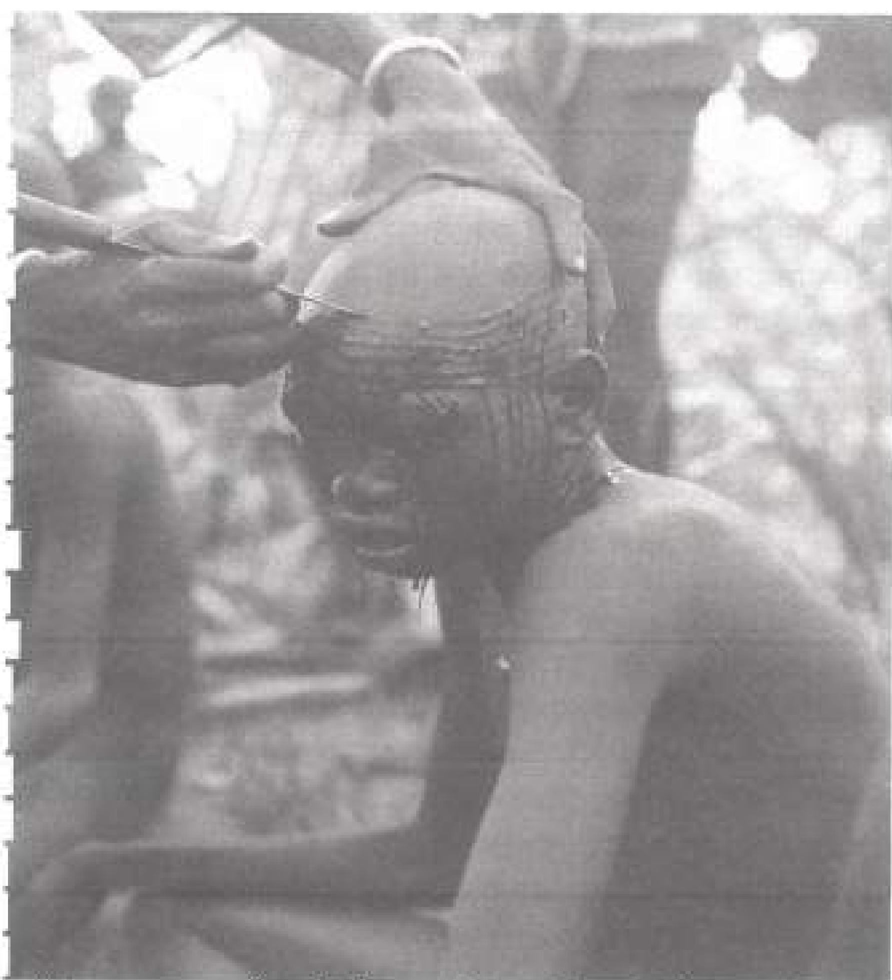
इस तरह के सांस्कारिक उपक्रमों के आयोजन का समय कबीले के बड़े-बुजुर्ग तय करते हैं जो किसी बालक या बालिका के युवा वय में प्रवेश करने पर नजर रखते हैं। बचपन और जवानी के संधिकाल में होने वाले संस्कार का पहला चरण पृथक्करण होता है जब किसी पुरुष सदस्य को अपने परिवार और कबीले से निश्चित समय के लिए अलग रहना पड़ता है। यह समय 6 से 8 सप्ताह तक का होता है, जब किसी युवा हो रहे बालक को भावी जीवन में जनजातीय भूमिका के लिए तैयार किया जाता है। इस दौरान उसे जनजातीय विद्या और जीवनशैली का गहन प्रशिक्षण दिया जाता है। इसी क्रम में उसके लिंग का खतना और कपाल का परिच्छेदन (बिना रंग का गोदना) किया जाता है। इस प्रशिक्षण के अन्तर्गत उसे जनजातीय कला और नृत्य के सांस्कृतिक महत्व को सिखाया जाता है और उन स्थलों से भी परिचित कराया जाता है जो धार्मिक रूप से महत्वपूर्ण होते हैं। इतना कुछ सम्पन्न करने के बाद नवदीक्षित जब अपने समाज में लौटता है तब लोग उसका "पूर्ण पुरुष" के नये अवतार में स्वागत करते हैं और उसे सामाजिक सम्मान का हकदार मानते हैं।

ऑस्ट्रेलिया के ही मरदुजाराजनजातीय कबीले में किसी युवा हो रहे बालक के नासा-पट (दो नथुना के बीच का पट) को हड्डी से बने छोटे औजार से छेदा जाता है। कुछ समय बाद, अपने समुदाय से दूर, ननिहाल में, उसके मामा द्वारा परिच्छेदन करवाया जाता है। एक साल बाद उसके लिंग का खतना किया जाता है और भीतरी जंघा में लिंग के आकार का चीरा लगाया जाता है। इस चीरे का घाव सूख जाने के बाद उसे विवाह करने की अनुमति मिल जाती है।

उगान्डा के गीसू जनजाति में, पुरुषों का परिच्देदन, उनके जनजातीय बंधन और परिचय के मद में अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। वास्तव में, यह परिच्छेदन का अत्यन्त पीड़ादायक कर्मकाण्ड ही है जो, उनके विश्वासानुसार, उन्हें दूसरे जनजातीय समुदाय से भिन्न गौरव प्रदान करता है। गीसू जनजाति, परिच्छेदन की कठिन अग्नि-परीक्षा से गुजरने के कारण, अपने आप को 'बासनी', मर्द कहते हैं, जबकि दूसरे समुदाय के लोग, परिच्छेदन की पीड़ा का सामना नहीं कर पाने के कारण गोबर-गणेश, 'बसिन्डे' या नामर्द अथवा 'बच्चा' कहे जाते हैं। गीसू जनजातीय में परिच्छेदन, जिसे 'इम्बालू' कहा जाता है, इस कमकाण्ड के साथ उनकी सांस्कृतिक महत्ता पर प्रकाश देता है। लगभग बीस की आयु के युवक से अपेक्षा की जाती है कि परिच्छेदन की पीड़ा को वह शान्त भाव से सहन करे और किसी प्रकार की पीड़ा का प्रदर्शन नहीं करे, अन्यथा उसका परिच्छेदन अधूरा ही छोड़ दिया जायगा और वह व्यक्ति जीवन भर 'नामर्दगी' के कलंक के साथ एकाकी जीएगा, जो वस्तुतः मृत्यु से भी कठिन होता है। इस कर्मकाण्ड में पहले उसके कपाल का परिच्छेदन किया जाता है। अगले सप्ताह

उसके लिंग के अग्र भाग के चारों ओर की चमड़ी को काट कर अलग किया जाता है।इस पूरे कर्मकाण्ड में नवदीक्षित को यह प्रमाणित करना पड़ता है किवह एक प्रबल योद्धा है, जो अपने भय और कष्ट पर इस विश्वास के साथ विजय प्राप्त करता है कि उसकी आन्तरिक शक्ति दुष्मनोपर विजय प्राप्त करने का प्रबल साधन है।

लिंग–परिच्छेदन (खतना) की प्रक्रिया न्यू गीनिया के पपुआ आदिवासियों के समुदाय में और भी जटिल और कष्टदायक है जिसमें लिंग–मुण्ड के चारों ओर चीरे लगाए जाते हैं। इस प्रकार के घोर पीड़ादायक कर्मकाण्डों से पहले अतिसम्वेदिता जैसी मनोवैज्ञानिक विधियाँ की जाती हैं, जिसके अन्तर्गत उपवास और गीत–नृत्य के द्वारा अनिद्रा की स्थिति बनाना सम्मिलित है। परम्परागत जनजातीय समुदायों में जिस प्रकार के पीड़ादायक कर्मकाण्ड लड़कों के लिए अनिवार्य हैं, उसकी अपेक्षा लड़कियों के लिए निर्धारित विधियाँ कुछ सरल हैं। पपुआ न्यूगिनी के कोइटा जनजाति में गोदना को 'मोको' कहा जाता है। इस समुदाय में लड़कियों के शरीर पर गोदना गोदने का प्रारंभ 5 वर्ष की आयु में हो जाता है और हर साल, पैर से लेकर ऊपर की ओर बढते हुए, निश्चित डिजाइन के साथ, गला तक जाता है। उसके शरीर पर गोदना का चित्राण आयु के साथ बढता है और जब डिजाइन का रूप अंग्रेजी के वी ट के आकार का होता है तब समझा जाता है कि वह लडकी विवाह योग्य हो गयी है।



उत्तरी जापान और सखालीन के क्षेत्रा में गोरी चमड़ी और रोमिल चेहरे वाली ऐन जनजाति में वैवाहिक विधियों का समापन दुलहन के चेहरे पर पति द्वारा गोदना बना कर किया जाता है। इस जनजाति की लोककथाओं में एक बौना जनजाति का उल्लेख आता है। ऐनु जनजाति के लोग उन बौना पर आक्रमण करके उनकी स्त्रियों को बंदी बना कर घर ले आते थे और उनके चेहरे पर गोदना बना देते थे ताकि वे भाग न जाय। गोदना बनाने के लिए ऐनस लोग एक विशेष प्रकार के चाकू का इस्तमाल करते थे। यह चाकू ज्वालामुखी विस्फोट में निकले लावा से बने काले रंग के काँच का बना होता था। उस चाकू से चीरा लगा कर डिजाइन बनाया जाता था और उस पर कालिख मला जाता था। गोदना के घाव के सूखने के लिए एक विशेष प्रकार के वृक्ष की छाल का काढा बना कर उसमें

कपड़ा भिगो कर सेका जाता था। आमेजन (ब्राजील) की मेहीनाकू जनजाति मे जब कोई लड़की पहली बार रजस्वला होती है तब छः माह के लिए उसे पृथक झोपड़ी में रहना होता है और खाने–पीने तथा सोने से सम्बंधित कई निर्देशो का पालन करना पड़ता है। उक्त अवधि म केवल सन्तान वाली स्त्रियाँ ही उससे मिल सकती हैं, जो उसे उर्वरता से सम्बधित कई प्रकार के निर्देश देती हैं। इस अवधि में वह लड़की नग्न रहती है, बाल से अपने चेहरे को ढँक कर रखती है और कई तरह के फीते अपने गले में धारण करती है जो उसके रजोवती होने का सकेत करते हैं। इन्हीं विधियों के अन्तर्गत, किसी स्त्री कलाकार के द्वारा, उसके कमर से लेकर पैर तक के अंग में गोदना किया जाता है।

सामोआमें गोदना या तताउ के प्रयोग की परम्परा पिछले कम से कम दो हजार वर्षों से चालू है। गोदना करने वाले औजार और तकनीक भी बहुत कम ही बदले हैं। इस कार्य का कौशल पिता से पुत्रा तक हस्तान्तरित होता है; हरेक गोदना–कलाकार या तुफुगा, अपने पिता का सहयोगी बन कर अनेक वर्षों के कार्य–अनुभव के बाद ही स्वतन्त्रा रूप से अपनी कला में निपुण हो पाता है। एक युवा कला–प्रशिक्षु पहले कई दिना तक बालू पर डिजाइन बनाने का अभ्यास करता है, फिर पेड़ों की छाल पर यह अभ्यास शुरू होता है। इस क्रम में वह गोदना बनाने के एक खास औजार, अउका प्रयोग करता है। सामोआ के गोदना कलाकार अपना औजार जंगली सूअर के दाँत को तेज नुकीला बना कर, उसके साथ समुद्री कछुए की खोपड़ी का टुकड़ा ब्लेड की तरह तेज करके दोनो को लकड़ी के बेंट में लगा कर करते हैं। सामोआ में गोदना का आज भी परम्परागत उपयोग है; पुरुषों के शरीर पर बनने वाले प्रतीकों को पे:ए और स्त्रियो की देह पर बनने वाले प्रतीकों को मालू कहा जाता है। भाषा–वैज्ञानिकों का मत है कि गोदना के लिए समानार्थी अंग्रेजी शब्द ''टैटू'' (Tattoo) का निर्माण सामोई शब्द tatau से हुआ है।

सन 1772 ई॰ में जब पहली बार यूरोपियन जहाजियों ने सामोआ द्वीप देखा उस समय जैकोब रौग्गेवीन तीन जहाजों का नेतृत्व करते हुए एक पूवी द्वीप, मानुआ पहुँचे। जहाज के एक कर्मी ने मानुआ के निवासियों का इन शब्दो में वर्णन किया, ''वे सम्भाषण में मैत्रीपूर्ण और व्यवहार में शिष्ट हैं, बिना जंगलीपन के किसी प्रकट लक्षण के। वे अपने शरीर पर रंग नहीं लगाते हैं, जैसा कि दूसरे द्वीपों के लोग करते हैं, लेकिन कमर से नीचे के भाग में वे कलात्मक ढंग से बुने हुए चुश्त रेशमी कपड़े पहनते हैं। कुल मिला कर वे बहुत ही आकर्षक और विनम्र निवासी हैं, अब तक जितने भी लोगों को हमने दक्षिणी समुद्र के द्वीपों में देखा है।'' जहाज कई दिनो तक लंगर डाल कर तट से दूर खड़े रहे, किन्तु तट पर जा कर वहाँ के निवासियों को नजदीक से देखने का जाखिम नहीं उठा सके, ताकि वे यह जान पाते कि मानुआ के निवासी चुश्त रेशमी पहनावा नहीं पहने हुए थे बल्कि कमर से नीचे उनके अंग गोदना से चित्रित थे।



परम्परागत गादना–चित्राण एक कठिन अग्नि–परीक्षा है जिसकी पीड़ा लम्बे समय तक सहन करनी पड़ती है। इसके घाव सूखने में कई सप्ताह लग जाते हैं। गोदना की विधि पीड़ादायक होने के अलावे बहुत खर्चीली होती है किन्तु उनके कबीले में 'मताई' पदवी पाने के लिए यह कष्ट उठाना ही पड़ता है। सम्भवतः आयोजन के व्ययसाध्य होने के कारण ही इस अनुष्ठान में एक साथ छः लड़कों का गोदना करवाया जाता था, जिसमें चार या अधिक कलाकार एक साथ बाँट कर काम करते हैं। गोदना का अनुष्ठान केवल लड़को के

लिए ही अनिवार्य नहीं था बल्कि लड़कियों के लिए भी उतना ही अनिवार्य था, लेकिन लड़कियों का गोदना स्त्री–कलाकार के द्वारा किया जाता था और उसके डिजाइन धार्मिक नहीं बल्कि सौन्दर्य बढ़ाने वाले थे।

सामोअन समाज प्राचीन काल से पद, हैशियत और कबीलाई प्रतिष्ठा के आधार पर जाना जाता है। सामोअन सरदार को 'अली' और उसके सहायकों को 'बोलने वाले सरदार' या 'तुलाफले' कहा जाता है। गोदना–संस्कार का अनुष्ठान युवा–काल के प्रारंभ में किया जाता है जो उसके भावी जीवन की हैशियत तय करता है। गोदना कलाकारों द्वारा उसके कपाल पर छोड़े गए गोदना के अमिट लेख आगे आने वाले समय में उसकी सहनशीलता और संस्कृति के प्रति उसके समर्पन का साक्ष्य होगा। इस क्रिया में असीम कष्ट होता है और घावों से संभावित छूत के कारण मृत्यु का खतरा भी बना रहता है, किन्तु इससे डर कर भागने वालों का जीवन और भी कष्टकर होता है, क्योंकि उस पर कायर या 'पला–ऐ' होन का कलंक लग जाता है। जो लोग गोदना के दर्द को सहन नहीं कर पाने के कारण अनुष्ठान को बीच में ही छोड़ कर भाग जाते हैं, उनका चित्राण जीवन भर अधूरा ही रह जाता है और वह लज्जित जीवन जीने के लिए बाध्य होता है। इस कलंक की आग में उसका पूरा परिवार भविष्य में झुलसता रहता है, इसलिए जनजाति का हर सदस्य पूरी शक्ति लगा कर परिच्छेदन की पीड़ा को बर्दाश्त करता है, मन को साधे रखता है और घाव पर घाव लगवाते हुए भी लज्जा की परिस्थिति को पनपने तक नहीं देता है।

सामोआ जनजाति की गोदना–पद्धति में अनेक औजारों का प्रयोग होता है जो कमोवेश प्राचीन औजारों के जैसे ही हैं। इन औजारों के अन्तर्गत गोदने या छेदने के औजार प्राचीन काल में जानवरों की हड्डीको धारदार बना कर तैयार किए जाते थे, किन्तु आज के समय में धातु के औजार भी काम में लाये जा रहे हैं। ''अउतापुलु'' एक तरह की चौड़ी कंघी है जो गोदना डिजाइन के चौड़े भाग को गोदने के लिए प्रयोग किया जाता हे। ''अउसोगी''यासो टेले'' ऐसी कंघी है जिससे डिजाइन की पतली रेखाएँ गोदने का काम किया जाता है। ''अउमोगो'' छोटी कंघी है जिससे छोटे चिन्ह गोदे जाते हैं। ''साउसाउ'' नामक औजार एक हथौड़ी है जिससे कंघी पर चोट किया जाता है। यह लगभग दो फीट लम्बा होता है और नारियल के छज्जे की बिचली रीढ़ से तैयार किया जाता है। ''तुलुमा'' उस पात्रा को कहते हैं जिसमें गोदना के औजार रखे जाते हैं। रंग रखने के पात्रा को ''इपुलामा'' कहते हैं। गोदना का रंग एक तरह के कड़े फल को जला कर उसकी कालिख से तैयार किया जाता है।

सामोआ जनजाति में , सिद्धान्ततः, गोदना–अनुष्ठान के पाँच चरण होते हैं जो दस दिनों में पूरे किए जाते हैं। हर बार गोदना करने के बाद एक दिन खाली छोड़ दिया जाता है ताकि गोदना से हुआ सूजन कम होता रहे। इस क्रिया का पहला चरण ''ओ ले टागा तापुलु'' कहा जाता है। इस चरण में गोदना के डिजाइन और आकार तय किए जाते हैं और देह पर चिन्ह लगाए जाते हैं। इसके बाद, दूसरे चरण में, ''आसो फा' अइफो'' के अन्तर्गत, पेट पर डिजाइन के चीरे लगाए जाते हैं। इन चीरों की संख्या आदमी की हैशियत के अनुसार भिन्न–भिन्न होती है; एक मताई के लिए इसकी संख्या चार, मताई के सहायक, वक्ता, के लिए तीन और जन सामान्य के लिए दो होती है। पेट में लगने वाले चीरे गुदामार्ग तक जाते हैं और इसे 'तफाउफिले' कहा जाता है; गुदामार्ग से अण्डकोष तक जाने वाले चीरे को ''ताफुमिति'' और शिश्न के मूल तक आने वाले चीरे को ''ताफित्तो'' कहा जाता है। ये सभी इतने कष्टदायक हैं जिसे शब्दो में बताया नहीं जा सकता।

तीसरे चरण में, घुटने से ऊपर, जाँघ में गोदना किया जाता है जिसे ''लाऊसाए'' कहा जाता है। यहाँ सघन चित्राण किया जाता है। चौथे चरण में, ''उलूमान'' अर्थात मध्य जंघा से जंघा–मूल तक

गोदने की क्रिया होती है। पाँचवें और अन्तिम चरण में ''उमगा'' अर्थात पेट से नाभि तक गोदा जाता है और इस चरण को ''पुटे'' अर्थात समापन कहा जाता है।

इसाई मिशनरियों ने सामोआ जनजाति में प्रचलित गोदना–परम्परा को अमानवीय और क्रूर कह कर इसकी समाप्ति का पुरजोर अभियान चलाया। कुछ वर्षों तक युवा सामोआ ने इस निषेध का डट कर सामना किया। कालान्तर में मिशनरी के विचार में भी नरमी आयी और गोदना सामोआ संस्कृति का अंग बना रहा।

अफ्रिका के देशों में गोदना का प्रचलन दस हजार वर्षों से भी पुराना है, किन्तु वहीं के लोगों की त्वचा का रंग गहरा काला होने के कारण उस पर गोदना का रंग दिखना कठिन होता है। इस कारण से, अफ्रिकी देशों में भारत से भिन्न प्रकार का गोदना प्रचलित है। ये लोग अपने शरीर पर नश्तर लगा कर, गर्म धातु के टुकड़े से त्वचा को दाग कर और अन्य कई विधियों से अपने शरीर को अलंकृत करते हैं। चुँकि भारत में इस विधि का न तो प्रचलन रहा है, और न ही साहित्यिक क्षेत्रा में इसकी चर्चा रही है, इसलिए इस कला के लिए हिन्दी या अन्य स्थानीय भाषाओं में कोई पारिभाषिक शब्द नहीं है; किन्तु यह कला भी गोदना के अन्तर्गत ही रखी गयी है। इस देह–कला की रचना तेज चीरा लगाने वाले, नश्तर लगाने वाले उपकरण से होता है, इसलिए यहाँ इस कला को हम **''नश्तर–कला''** या **''नश्तर–गोदना''** कहेंगे। अंग्रेजी में इस कला को स्कैरीफिकेशन (scarification) अर्थात् स्कैरीफाइ करना, नश्तर लगाना, त्वचा को छेदना, गोदना, जैसे किसी कड़े बीज के छिलके को खुरचना। अफ्रिका की मूर्तिकलाओं में इस कला का व्यापक प्रयोग हुआ है और विश्व कला–बाजार में लोकप्रिय रहा है।



नश्तर–कला के पीछे भी सौन्दर्यविषयक, धार्मिक और सामाजिक कारण हैं, जैसे गोदना के साथ ये सन्दर्भ जुड़े हैं। पश्चिमी अफ्रिका की जनजातियों में, युवावस्था में प्रवेश और विवाह के मानक संस्कार के रूप में, नश्तर–कला का व्यापक व्यवहार परम्परागत रूप से होता रहा है। इसका व्यवहार निजी परिचय के सम्बंध में जटिल सम्वाद के सम्प्रेषण के रूप में भी होता है और इस प्रकार के स्थायी शारीरिक चिन्ह निश्चित सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक भूमिका भी व्यक्त करते हैं। कई जनजातियों में, स्त्रियों के पेट पर बन नश्तर–गोदना उस स्त्री के माँ बनने की उत्सुकता व्यक्त करते हैं। नश्तर की पीड़ा को सहन करने की उसकी क्षमता को मातृत्व धारण करने में होने वाली पीड़ा को

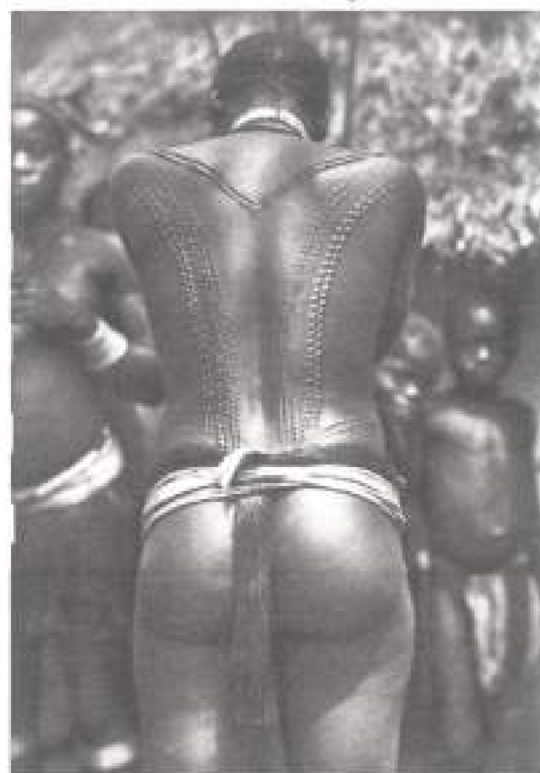
सहन करने की उसकी भावनात्मक परिपक्वता और तत्परता के रूप में देखा जाता है। उत्तरी घाना की डगोम्बा जनजाति जैसे कुछ समूह नश्तर–गोदना का उपयोग मूर्च्छा, खसरा, न्यूमोनिया, पेट दर्द जैसे रोगों के निवारण के लिए भी करते हैं। उनका मानना है कि ये रोग खून में पनपते हैं और इसलिए ये लोग त्वचा को काट कर उस पर वृक्ष–विशेष का औषधीय चूर्ण चीरे पर डालते हैं, ताकि औषधि चीरे से बहते खून के साथ मिल कर रक्त–संचार के साथ मिल जाय और रोग का निवारण हो।

अफ्रिका में बसने वाले अधिकांश कबीलों के लोग अपने नश्तर–गोदना के आधार पर जाति–विशेष या समूह–विशेष से सम्बद्धता के रूप में पहचाने जाते हैं। खास कर उत्तरी घाना के कुछ समूहों, जैसे गोन्जा, नानुम्बा, डागोम्बा, फा फा और माम्प्रूसी कबीलों के लोगों के लिये इस प्रकार का परिचयात्मक नश्तर–गोदना धारण करना अनिवार्य है।

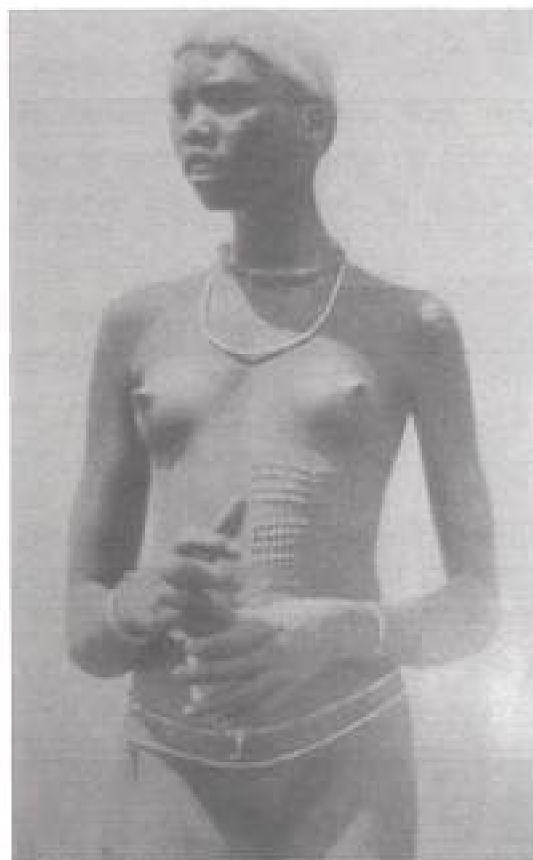
नश्तर–कला या नश्तर–गोदना का व्यवहार अनेक कारणो से, विश्व की अनेक संस्कृतियों में, प्राचीन काल से होता रहा है। कभी यह जीवन की एक अवस्था से दूसरी में प्रवेश करने के संस्कार के रूप में, कभी व्यक्ति के भावनात्मक लगाव के कारण, कभी रोगों के निदान के लिए तो कभी गुलामों के अभिलेख के रूप म या अपराधियों के चेहरे पर सजा के रूप में प्रयोग किया जाता रहा है।

ऑस्ट्रेलिया के आदिवासी (एबोरीजनल) और न्यू गीनिया के सेपिक नदी के कबीलों में गर्म धातु के टुकड़े से त्वचा को दाग कर बनाए गए छाप का चलन आम है। यह उसी प्रकार है जैसे भारत में धार्मिक कारणा से, श्रद्ध–कर्म में अथवा सरकारी पशु–गणना के लिए पशु को दागा जाता है। न्यूजीलैण्ड के माओरी कबीले के लोग चेहरे पर गहरा चीरा लगा कर, उस चीरे पर एक तरह का इंक मलते हैं। इस तरह के गोदना को "मोको" कहा जाता है। उनका मानना है कि चेहरे पर मोको बनाने के बाद ही शरीर पूर्ण होता है। मोको में उकेड़ा गया डिजाइन एक तरह से उनकी पहचान होता है, जैसे किसी व्यक्ति का हस्ताक्षर उसकी पहचान होता है।

चेहरे पर नश्तर–गोदना बनवाने का चलन हुन जनजाति में भी परम्परागत है। अफ्रिका की कई जनजातिसमूहों का विश्वास है कि नवजात शिशु के चेहरे पर नश्तर लगवाने से उसे दृष्टि सम्बंधी रोग नहीं होते हैं। प्रायः सभी शिकारी आदिवासी–समूहों में रक्त बहाना देवता/दुष्ट आत्माओं/शुभ आत्माओं या पितर–आत्माओं को अर्पित अर्घ की तरह होता है। इस रूप में भी नश्तर–गोदना अफ्रिकी और आस्ट्रलियन जनजातियों में, खास कर जहाँ नवजात शिशु को नश्तर लगाया जाता है, कर्मकाण्ड की तरह पूरा किया जाता है। पपुआ न्यूगिनी में युवाओं के शरीर पर घड़ियाल की खाल जैसे डिजाइन का नश्तर–गोदना बनाया जाता है। उनका विश्वास है कि घडियाल ही मनुष्य का सृष्टिकर्त्ता है, इसलिए नश्तर लगा कर उसका स्वरूप धारण करना घडियाल देवता के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना हुआ, और इस क्रिया के दौरान बहा खून वस्तुतः घड़ियाल–देवता को अर्पित अर्घ है। इस क्रम में, दीक्षित की छाती, पीठ और नितम्बों पर घड़ियाल के दाँत जैसे डिजाइन उकेड़े जाते हैं।



ऑस्ट्रेलिया में, पूर्व कालिक समय में, नश्तर–गोदना सभी एबोरीजनल समुदायों में व्यापक रूप से प्रचलित था किन्तु अब इसे कानून के द्वारा, उत्तरी राज्यक्षेत्रा, अर्नहेम लैण्ड तक सीमित कर दिया गया है। यहाँ 16–17 की आयु में, पुरुष और स्त्री दोनो की छाती, कंधे और पेट में नश्तर लगाए जाते हैं। इन चिन्हों से रहित, सपाट चमड़ी वाले सामुदायिक सदस्य को परम्परागत रूप से व्यापार करने, आनुष्ठानिक गीत गाने, नृत्य करने और अन्य समारोहों में भाग लेने की अनुमति नहीं होती है। इथियोपिया की कारो जनजाति में, पुरुष अपनी छाती पर नश्तर–गोदना बनवा कर प्रदर्शित करता है कि उसने दुष्मन कबीले के लोगों को मारा है। इथियोपिया के ही सूरी लोग दुष्मन कबीले के पुरुष को मारने पर अपनी दाहिनी बाँह पर घोड़े के नाल जैसा आकार गोदवाते हैं, जबकि किसी दुष्मन औरत को मारने पर बाँयी बाँह पर वैसा आकार गोदवाते हैं। स्त्रियों के वक्ष पर बने गोदना को कामुक और आकर्षक माना गया है। नश्तर लगाने से अथवा गर्म धातु द्वारा दागे गए चिन्ह जब सूख जाते हैं, तब बार–बार उसी स्थान पर नश्तर लगाने या दागने से त्वचा के भीतर की शूक्ष्म नाड़ियाँ और तन्तु त्वचा के ऊपर उभार की तरह उठ जाते हैं और डिजाइन की एक विलक्षण रचना करते हैं। गोदना डिजाइन के इस प्रकार को अंग्रेजी में केल्वाइड ;मसवपकद्ध कहते हैं। इस तरह की रचना के लिए हिन्दी में कोई पारिभाषिक शब्द नहीं है, किन्तु चूँकि तन्तुओं के फफनने से इस तरह की रचना होती है, इसलिए इस तरह की रचना को "फफून–गोदना" कह सकते हैं। यद्यपि कि इस तरह की घोर पीड़ादायक विधियों द्वारा शरीर को अलंकृत करने की परम्परा को बाहरी जगत के लोग असंगत व्यवहार कह सकते हैं, किन्तु परम्परागत जनजातीय के अनुभवी सधे हुए हाथों द्वारा नश्तर–गोदना बनवाने की रीति मूल रूप से उनकी सामाजिक पद्धति से जुड़े धार्मिक उद्देश्य और सांस्कृतिक विश्वासों पर आधारित है। एक स्वैच्छिक उत्परिवर्त्तन के रूप में, नश्तर–गोदना भी सामान्य गोदना या प्लास्टिक सर्जरी से भिन्न नहीं है। अफ्रिकी नश्तर–गोदना का मुख्य उद्देश्य सौन्दर्य–वर्द्धन है, यद्यपि कि त्वचा को काटने–छीलने से बने छापों के प्रकार, आकार और शरीर पर उनकी अवस्थिति प्रायः उनके समूह–परिचय अथवा जीवन में उस व्यक्ति के स्तर पर प्रकाश देते हैं। सूडान की डिंका जनजाति में चेहरे पर किया गया गोदना, खास कर कनपटी के आस–पास किया गया गोदना, उनके कुल–वंश का परिचायक होता है।



दक्षिणी सूडान में, नूबा जाति की लड़कियाँ युवावस्था में प्रवेश करने से पहले, परम्परागत रूप से अपने कपाल, छाती और पेट पर गोदना करवाती हैं। पहली बार रजस्वला होने पर उन लड़कियों को दूसरी बार, दोनो वक्ष के आस–पास चीरे लगाए जाते है। गोदना की यह प्रक्रिया धीरे–धीरे आगे बढती है और जब उसे बच्चा पैदा होता है, तब पहले बच्चे की दूध–छुड़ाई के बाद, अन्तिम रूप से और व्यापक रूप से, दोनो वक्ष के बीच की उरोरिथ, पीठ, नितम्ब, गला और टाँगों पर गोदना किया जाता है। स्पष्ट है कि नूबा लोगों का गोदना उनकी सामाजिक स्थिति और परिपक्वता से निर्धारित होते हैं। कई धार्मिक मान्यताओं के रहते हुए भी, गोदना को उनके सौन्दर्य का चिन्ह माना जाता है किन्तु इसके साथ स्वास्थ्यजन्य कारण भी जुड़े हुए हैं। आँख के ऊपर बने गोदना से, उनका मानना है कि, आँखों की ज्योति बढती है। कनपटी पर बन गोदना माथे के दर्द को दूर करता है और पेट में लीवर के स्थान पर बने चार कोणीय तारा हेपेटाइटिस का निवारण करता है।



डिंका और नूबा जनजातियों के बीच, सांस्कृतिक परम्परा के सन्दर्भ में, गोदना करवाने को लेकर, किसी व्यक्ति की निजी इच्छा बहुत महत्व नहीं रखती है। पीड़ा की कठिन परीक्षा का धैर्य पूर्वक सामना करने और निर्धारित डिजाइना के गोदे जाने के बाद ही कोई व्यक्ति सामाजिक मान्यता प्राप्त कर सकता हैं। कैमेरुन के बाफिया लोगों के बीच गोदना के प्रतीकों के समाजीकरण या व्यक्ति के मानवीकरण से सम्बधित उनकी स्पष्ट मान्यता है कि गोदना के छापों से रहित जनजातीय मानव और सूअर या चिम्पांजी में कोई अन्तर नहीं है। आॅफ्रिका के अन्य भागों में, गोदना को लेकर और भी कई मान्यताएँ हैं। दक्षिणपूर्व नाइजीरिया के लोगों का विश्वास है कि उनके शरीर पर बने गोदना, मृत्यु के बाद आत्मलोक तक जाने की यात्रा में, मुद्रा की तरह काम करते हैं । इथियोपिया की ओमो घाटी के मुरसी लोग सौन्दर्यीकरण के उद्देश्य से गोदना करवाते हैं। वहाँ के स्त्री और पुरुष अपने शरीर पर बल खाती लता जैसे डिजाइन गोदवाते हैं। इस तरह के डिजाइनों का कोई प्रतीकात्मक अर्थ तो नहीं है, किन्तु यह विपरीत लिंग के लोगों को आकर्षित करता है। आॅफ्रिकी गोदना विशेषज्ञों का मानना है कि ऐसे डिजाइनों का मृदु स्पर्श कामोत्तेजक है।

नश्तर–गोदना बनवाने के क्रम में काफी रक्त बह जाता है और असह्य पीड़ा भी होती है, फिर भी प्रथा से जुड़ी जनजातियाँ इस परम्परा का अनुपालन करती है। इसके पीछे उनका तर्क है कि यह किसी व्यक्ति की स्वस्थता, सहनशीलता और बहादुरी प्रदर्शित करता है, जो उन कबीलों में प्रतिष्ठा और जिम्मेदारी के मानक हैं। इस साहसिक प्रवृति का प्रदर्शन वस्तुतः किसी तरुण बालक या बालिका के ''यौवन–अनुष्ठान'' के अन्तर्गत बनने वाले गोदना से ही शुरु हो जाता है, जब कम आयु के तरुण को यह प्रमाणित करना पड़ता है किवह वयस्क आयु की जिम्मेदारियों, खास कर युद्ध में घायल होने या

मृत्यु की आशंका को झेलने का दम रखता हो। इसी तरह, एक तरुण बालिका को यह प्रमाणित करना पड़ता है कि वह शिशु–जन्म के दौरान होने वाले जरब या खतरों का सामना करने में सक्षम होगी। गोदना–प्रक्रिया के दौरान होने वाली असह्य पीड़ा के रूपान्तरकारी तत्व का जुड़ाव वास्तविक दैहिक अनुभव से होता है, भविष्य के सुखद निश्चय से मस्तिष्क में एक स्वचालित प्रक्रिया होती है, इन्डोर्फिन मुक्त स्राव करता है जो आध्यात्मिक अनुभूति का प्रेरक होता है, एक तरह की स्वप्निल स्थिति बनती है और आदमी दर्द भूल कर गोदना करवा लेता है।



नृतत्व–वैज्ञानिकों का मानना है कि गोदना का चलन उतना ही पुराना है जितना मानव–सभ्यताओं का प्रादुर्भाव। सहारा के तस्सीली पहाड़ी श्रृंखला में प्रागैतिहासिक (8000–5000 ई॰पू॰) प्रस्तर चित्रा मिले हैं, मानवाकृति, जिनके शरीर पर जहाँ–तहाँ कुछ चिन्ह बने हैं। पुरातत्वविदों का मानना है कि ये चिन्ह गोदना–कला का प्रतिनिधित्व करते हैं। मेक्सिको के विल्लाहरमोसा में ओलमेक प्रस्तर मूर्तियाँ मिली हैं जो लगभग 1000 ईसा पूर्व की हैं। इन मूर्तियों के चेहरे और कंधे पर नश्तर–गोदना जैसे चिन्ह पाए गए हैं। विश्व के अलग–अलग भागों में समय के साथ ही गोदना के औजारों और विधियों में, सुरक्षा की दृष्टि से, परिवर्त्तन होता रहा है, किन्तु इसके आधार सिद्धान्त आज भी वही हैं जो आदिम युग में थ। जैसा कि शब्द 'गोदना' से स्पष्ट होता है, त्वचा की तह तक छेद कर, गोद कर, कभी त्वचा को दाग कर स्थायी छाप बनाना जिससे शरीर का रूपान्तरण हो, इसका मूल उद्देश्य रहा है। आश्चर्यजनक रूप से इस परम्परा का फैलाव पूरे विश्व में हुआ और हर जगह इसे एक साथ धार्मिक, सामाजिक, दैहिक और आध्यात्मिक सन्दर्भों के मिले–जुले प्रभाव के अन्तर्गत ही रखा गया। भारत में यद्यपि कि गोदना के सम्बंध में अनुसंधान के कार्य बहुत कम हुए हैं, किन्तु विश्व की अनेक संस्कृतियों, जैसे ऑस्ट्रेलियन एबोरीजनल,माओरी संस्कृति, प्राचीन माया–सभ्यता और अफ्रिका के कई राष्ट्रों के जनजातीय समाज में गोदना–प्रथा पर काफी अभिलेख तैयार किए गए हैं। आज के युग में इस कला का विस्तार विश्वविद्यालयों के युवा–वर्ग, सिनेमा, विज्ञापन, व्यापार–जगत और फैशन की दुनिया में खूब तेजी से बढ़ रहा हे, जो इस कला को नयी ऊँचाई प्रदान करेगा।

अफ्रिकी लोगों के घर की सजावट देख कर उनकी सुरुचि–सम्पन्नता का बोध होता है। घर की सज्जा में चित्राकारी का विशेष महत्व है। चित्राकारी के पैटर्न भी गोदना के प्रतीक–चिन्हों से बने होते हैं। उनकी दृष्टि में, देह भी एक घर ही है, देवताओं और पितरों का वास–स्थान। उसी प्रकार, घर भी देवताओं और पितरों का ही वास–स्थान है, जिसे चित्रापट की तरह सजा कर रखना उनकी जिम्मेदारी

है, जिसके एवज में वे घर में रहते हैं। भारतीय वाङमय में भी देह और गेह को देवताओं का वास–स्थान कहा गया है। कबीर के रहस्यवाद में मानव–शरीर दस दरवाजों का घर होता है। अफ्रिकी देह और घर में इतना अन्तर होता है कि बाँस और लकड़ियों से बने घर के टाट पर नदी की पँकीली मिट्टी से प्लास्टर करके रंगदार चित्रा आसानी से बन जाते हैं, जबकि उनकी देह का रंग इतना काला होता है कि उस पर दूसरा कोई रंग चढ़ना कठिन होता है। इसलिए वे अपने शरीर को काट–काट कर गहरे चिन्ह बनाते हैं ताकि देव–पितर प्रसन्न रहें।

यहाँ एक तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि अफ्रिकी नश्तर–गोदना की सभी शरीर पर एक जैसा लागू होने वाली कोई विधि और उसका निश्चित परिणाम नहीं है। ऐसा कहने का अर्थ यह है कि त्वचा के रुक्ष या मुलायम होने से, काट की गहराई में अन्तर होने से और घाव भरने के लिए किए गए उपायों के अन्तर से उभार मे अन्तर पड़ता है। इसलिए एक व्यक्ति पर प्रयोग की गयी विधि आवश्यक नहीं है कि दूसरे व्यक्ति पर हू–ब हू लागू किया जाय। घाव सूखने के बाद छाप उसी जगह स्थित नहीं रहते जहाँ चीरा लगाया गया था, बल्कि वह फैलता है।

दाग की इस रुझान के कारण महीन काम प्रायः लुप्त हो जाते हैं। इसीलिए उभार या छाप को नियंत्रित करने के लिए और उसे कलात्मक रूप देने के लिए दुबारा–तिवारा, बार–बार घाव भरने के बाद चीरे लगाने पड़ते हैं, तब कहीं जा कर इच्छित डिजाइन प्राप्त होता है। इसके विपरीत, किसी–किसी की चमड़ी इतना उपयुक्त होती है कि बहुत कम बार चीरे लगाने पड़ते हैं और चीरे भी अनुकूल उखड़ते हैं। इसलिए कहा गया है कि शरीर स्वयं अपने गोदना को कलात्मक बनाता है, कलाकार तो मात्रा एक कामकाजी है। नश्तर–गोदना के डिजाइन सम्पूर्ण होने में काफी समय लगता है। इस प्रक्रिया में तरुणावस्था से लेकर प्रौढ़ावस्था तक का समय लगना तो आम बात है।

प्रकृति की गोद में, अपनी मान्यताओं के साथ, स्वच्छन्द जीने वाले अफ्रिकी लोगों के समाज से, पन्द्रहवीं शदी तक, शेष विश्व एक तरह से अनजान था। उनका पता लगाया अमेरिकी और यूरोपियन लोगों ने, जो दुनिया को जानने, जीतने और लूटने के इरादे से समुद्री साहसिक यात्रा पर निकलते थे। अफ्रिकी समाज का रहस्योद्घाटन होते ही उन निश्छल–निरीह लोगों पर क्रूरता का पहाड़ टूट पड़ा। गोरे अमेरिकी लोगों की दृष्टि में काले अफ्रिकी मात्रा पशु थे। वे उन्हें जानवरों की तरह घेर कर, जंजीरों में जकड़ कर, उनके शरीर पर अपनी मालकियत की छाप दाग कर, उन्हें अपना गुलाम बना कर, अमेरिका लाने लगे। यह सिलसिला सन् 1680 ईस्वी से प्रारंभ हुआ। प्रायः हर रोज, बेनिन और काँगो के "गुलाम–बन्दरगाह" ;संअम चवतजद्ध से जहाजों का जत्था, हजारों अफ्रिकी स्त्री, पुरुष और बच्चों को लेकर, अटलान्टिक महासागर के जलमार्ग से, लगभग तीन महीने में अमेरिका पहुँचता था और फिर ब्रीटिश लोगों के हाथ, उन्हें गुलाम बना कर बेच दिया जाता



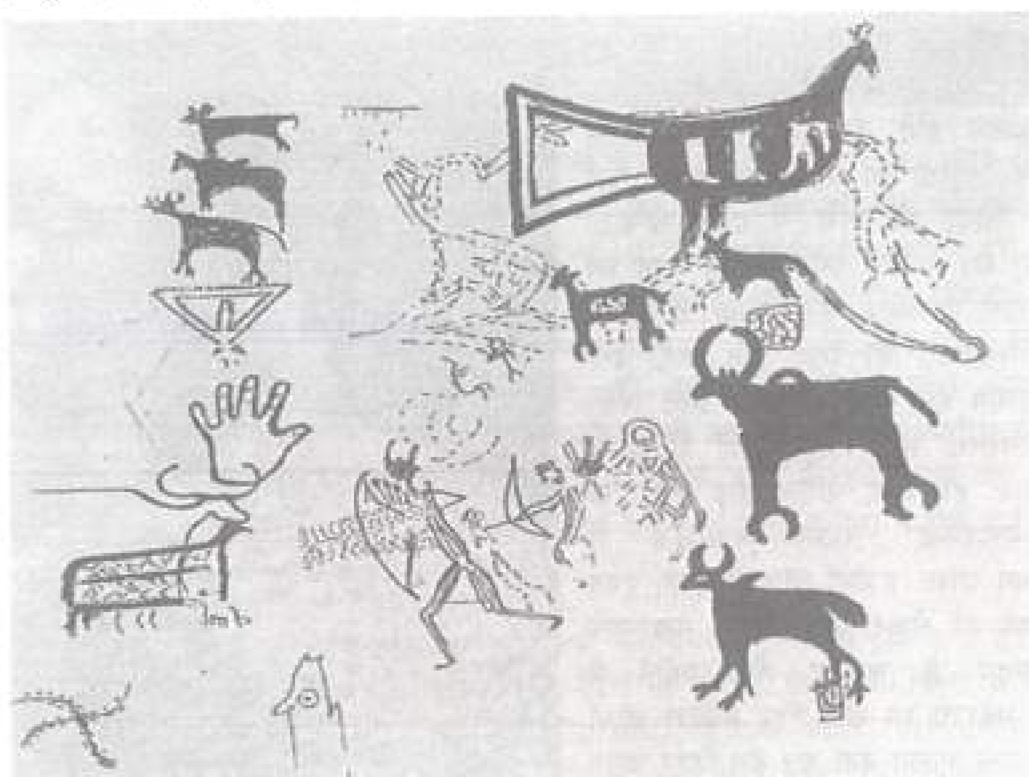
था। इसके बाद वे गुलाम एक खरीदार से दूसरे खरीदार तक, सोने के सिक्कों की तरहबिकते रहते थे, जिनसे औपनिवेशिक टापुओं पर, खती के काम में, जानवरों की तरह मुफ्त में काम लिया जाता था।

हर वर्ष अफ्रिका से लाखों की संख्या में पकड़ कर लाए गए और यूरोप–अमेरिका के गुलाम–बाजारों में बेचे गए वे गुलाम सोलहवी से अठारहवीं शदी तक अमेरिका, स्पेन, पुर्तगाल और ब्रीटेन के अर्थतन्त्रा के मुख्य आधार थे। आखिरकार, ब्रिटिश साम्राज्य में सन् 1833 ईस्वी में और संयुक्त राज्य अमेरिका में 1863–'65 में इस अमानवीय व्यापार का उन्मूलन हो गया। अफ्रिकी लोग जहाँ भी गए,उनकी सांस्कृतिक विरासत, गोदना, उन देशों की मिट्टी में खुशबू बन कर समा गया। आज भी यूरोप और अमेरिका के देशों में गोदना नये अर्थ के साथ प्रचलित है।

भारत

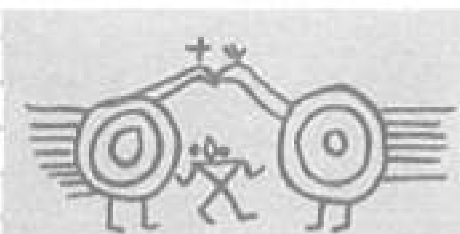
प्रसंग चाहे भारतीय लोक–कलाओं के उ०म का हो अथवा किसी अन्य देश की कला–परम्परा का, आद्यकालीन शैल–चित्रा या गुफा–चित्रों को मूल स्रोत माना गया है। यहाँ हम भारतीय लोक–कलाओं के उ०म के रूप में जिन क्षेत्रों के शैल–चित्रा को आधार–स्वरुप ले रहे हैं, वे क्षेत्रा मध्य प्रदेश (छत्तिसगढ़ समेत), महाराष्ट्र, उड़ीसा तथा आसाम से जुड़े उत्तर–पूर्व के राज्य हैं। मध्य और उत्तर–पूर्वी ये भाग भारतीय कला के विकास का, सभी युगों में, प्रतिनिधित्व करते रहे हैं और इन्हीं क्षेत्रों में भारत की प्राचीनतम आदिवासी आबादी, शैल–चित्रों के समृद्ध भण्डार के साथ, संकेन्द्रित रहे हैं। ये उल्लिखित राज्य,- भौगोलिक और ऐतिहासिक रूप से, अपने पड़ोसी राज्यों के साथ अनेक प्रकार से सम्बद्ध रहे हैं, यथा मध्य प्रदेश और छत्तिसगढ़ के साथ उत्तर प्रदेश और आन्ध्र प्रदेश;महाराष्ट्र के साथ गुजरात और कर्णाटक; उड़ीसा के साथ बिहार और बंगाल के अतिरिक्त आन्ध्र प्रदेश; आसाम के साथ बंगाल और उत्तर–पूर्व के आदिवासी क्षेत्रा।

राज्य–क्षेत्रों के भौगोलिक और ऐतिहासिक सम्बंधों का प्रभाव उन क्षेत्रों के कला–विकास पर बहुत महत्त्वपूण होता है।इस दृष्टि से, मध्य प्रदेश और छत्तिसगढ़, जो वास्तव में भारत का हृदय–प्रदेश

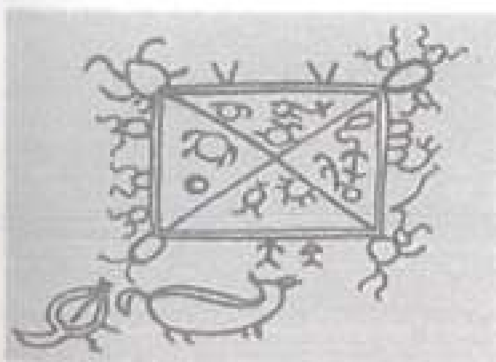


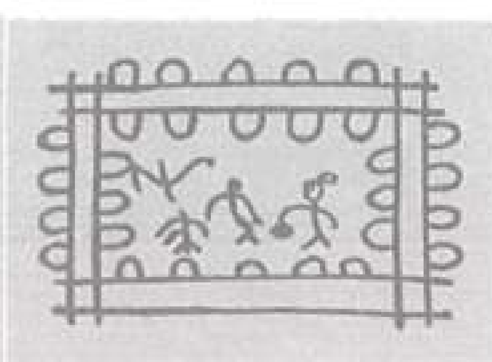
हैं, भारतीय कला के उ०म और विकास के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्रा रहे हैं। शैल–चित्रों और गुफा–चित्रों के लिए प्रसिद्ध भीमबेतका मध्य प्रदेश के रायसेन जिले में स्थित है। पुरातत्वविदों का मानना है कि भीमबेतका में मनुष्य का आदिम रूप, बानर–मानव, भी करीब एक लाख वर्ष पहले रहते थे। यहाँ पर मिले कुछ शैल–चित्रा 30,000 वर्ष पुराने हैं। कहते हैं कि 'भीमबेतका' नाम महाभारत के महाबली चरित्रा भीम के नाम पर पड़ा है। लोक–परम्परा में, पाण्डवों के अज्ञातवास की अवधि में, भीम ने यहीं वनक्षेत्रा में हिडिम्बा से विवाह और निवास किया। इसी आधार पर, भीम–बैठका, भीमबेतका कहा जाने लगा। भीमबेतका के शैलचित्रों में पशु के अतिरिक्त शिकार के आदिकालीन औजारों के साथ मानव के चित्रा उकेरे गए हैं। इन औजारों में नुकीले पत्थर, कुल्हाड़ी, झटहा (फेंकन योग्य डण्डा), गदा, बर्छी और तीर–धनुष बहुतायत से मिले हैं। चित्रों में पशु और मनुष्य का सीधा मुकाबला दिखलाया गया है। किसी–किसी चित्रा में पशु के सींग पहन कर नाचते, आनन्द मनाते लोग भी दिखलाए गए हैं। भीमबेतका के इन शैलचित्रों में मोर, योनि, हाथ, पशु और शिकार करने की गतिमान मुद्रा में शिकारी दिखलाये गए हैं।

शैल–चित्रों का प्रभाव आगामी भारतीय कला पर कितना और किस रूप में पड़ा, इसका अध्ययन तो एक पृथक और व्यापक विषय है, किन्तु इन पशुओं और पक्षियों में कुछ, खास कर हाथी और मोर, भारतीय कला में अद्यतन उपस्थित हैं। विश्लेषकों का मानना है कि गोदना देह–चित्रा का अवतरण गुफाचित्रों से हुआ, जबवह कृषि से अनज़ान था। उस समय गोदना उनके समूह का परिचायक चिन्ह था। एक बार यह लेखकद्वय कर्णाटक की आदिवासी महिलाओं के शरीर से गोदना का संग्रह कर रहे थे, जब संयोग से ऐसा प्रतीक सामने आया जो खरवाई



(मध्य प्रदेश) के एक गुफाचित्रा से बहुत मिलता था। उस चित्रा में दो मोर प्रेम की मुद्रा में थे जबकि उनके बीच में, मोर के आकार से छोटा, एक मनुष्य का चित्रा था। उत्सुकतावश, पूछने पर उस आदिवासी महिला ने जो कुछ बतलाया, वह उनके प्रतीकार्थों की समझदारी को दर्शाता है। उसने बताया कि इस संसार में मनुष्य से पहले मोर–मयूर आये। मनुष्य उस समय प्रेम करना नहीं जानता था, हमशा शिकार में ही लगा रहता था; सन्तति उत्पन्न करने का ज्ञान भी उसे नहीं था।



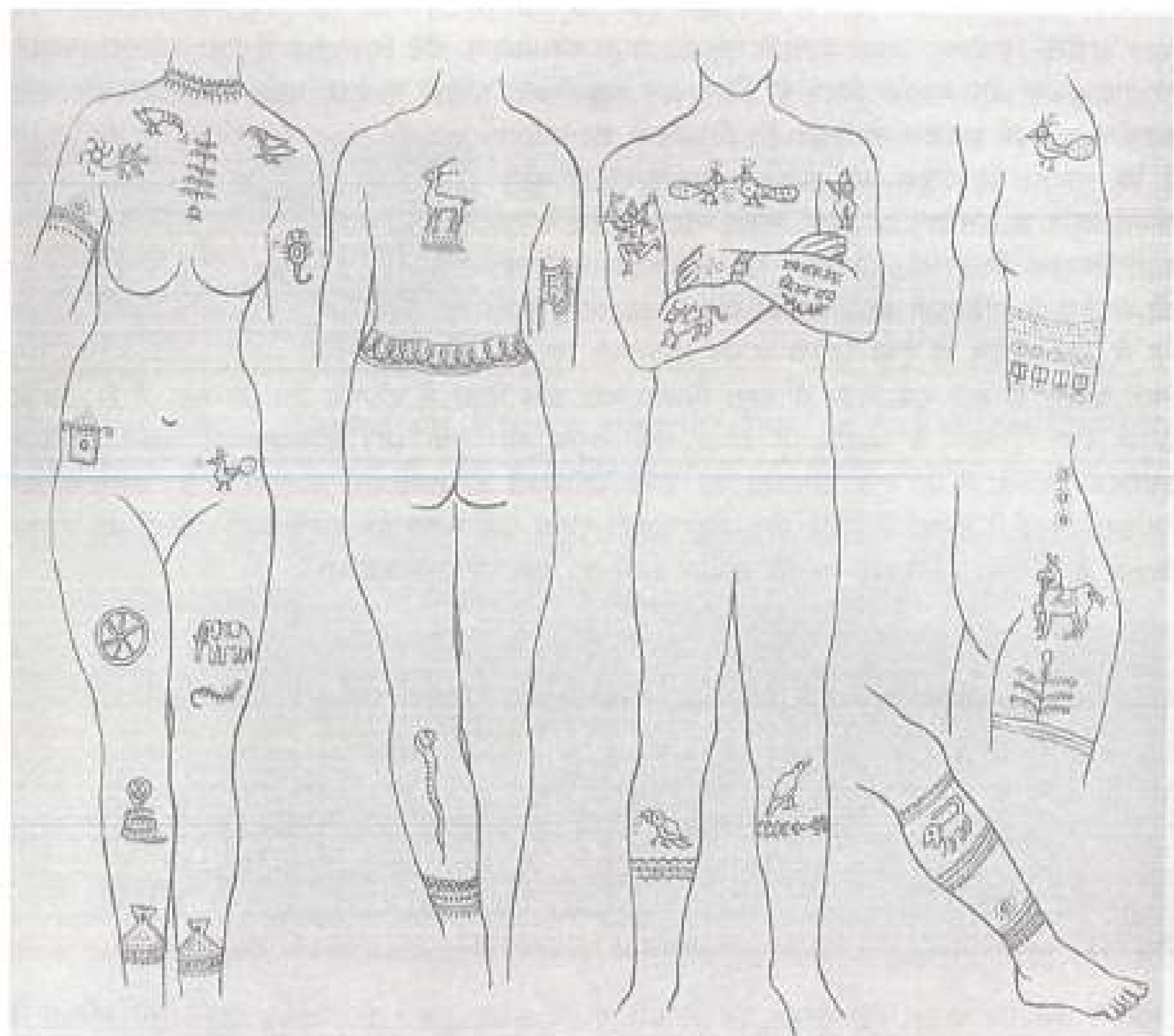


मोर ने उसे प्रेम करना सिखलाया, तब से यह संसार अबाद हुआ। शायद उस आदिवासी महिला ने ठीक ही कहा था; गोदना के उस चित्रा में मोर का आवर्द्धित आकार मनुष्य की तुलना में मोर का अधिक महत्व दिखला रहा था। अध्ययन के क्रम में हमने कई बार ऐसे प्रतीक देखे, खास कर ज्यामितिक प्रतीक, जो शैलचित्रों के ज्यामितिक रूप से अत्यधिक साम्य रखते थे।

आदिवासी लोग बहुत तरह के गहना पहनते हैं लेकिन गहना के सम्बंध में उनकी आध्यात्मिक अवधारणा अन्य लोगों से भिन्न है। उनका विश्वास है कि सभी तरह के गहना मनुष्य द्वारा बनाये गए और नश्वर

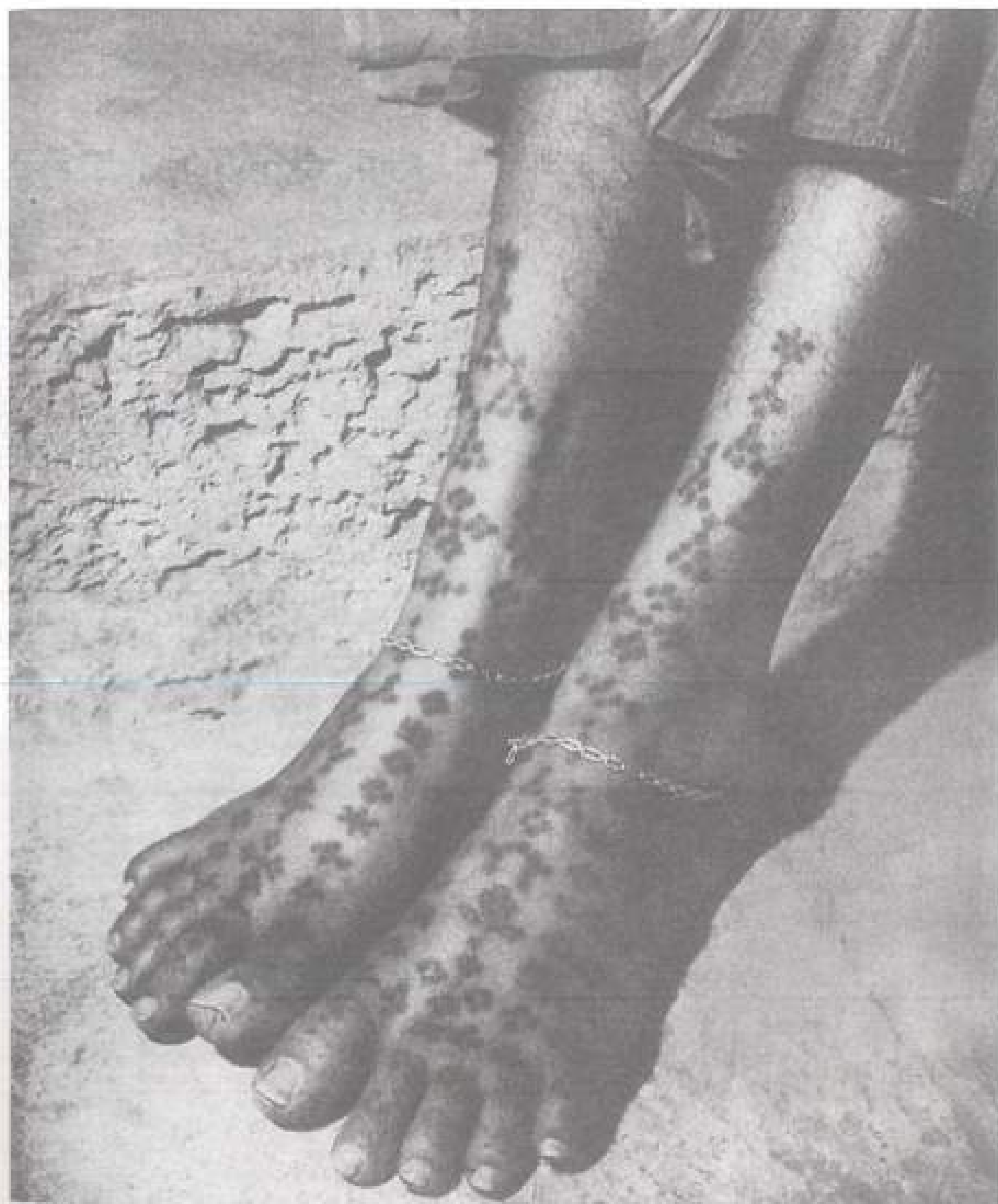
हैं। इसलिए उन्होंने गोदना के रूप में स्थायी गहने की खोज की। आदिवासी समुदायों में बहुत कम ही लोग होते हैं जो गोदना नहीं बनवाते हैं। यद्यपि कि आदिवासी पुरुष और स्त्री दोनों ही गोदना धारण करते हैं, किन्तु स्त्रियों के शरीर पर इसका व्यापक व्यवहार है। उनकी धारणा है कि गोदना एक ऐसा आभूषण है जो उनके साथ मृत्यु के बाद भी जुड़ा रहता है। छत्तिसगढ़ की स्त्रियाँ कौड़ी, सीपी, अस्थि, मिश्रित धातु, तांबा और कांस्य से बने गहने बहुत पसंद करती हैं, किन्तु गोदना उनका सर्वोत्तम आभूषण होता है।

राजस्थान में गोदना का प्रचलन, आदिवासी मूल की अर्ध–घुमन्तू जातियों के बीच, परम्परागत रहा है। अब ये जातियाँ सामाजिक धारा में मिल गयी हैं और गादिया लोहार, बनजारा और नाथ जोगी जाति–समूहों के रूप में जानी जाती हैं। इन जातियों में स्त्री और पुरुष दोनों अपने शरीर पर गोदना करवाते हैं, किन्तु स्त्रियों के शरीर पर भीतरी अंगों में भी गोदना करवाना लोकप्रिय रहा है। नाथ जोगी समुदाय में गोदना उनके समूह का परिचायक चिन्ह था।



गोदना के छात्रों के लिए यह जानना आवश्यक है कि लोककलाओं के विकास का अध्ययन वस्तुतः किसी क्षेत्रा के ऐतिहासिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक परिवर्त्तनों का विश्लेषण है। इतिहास को छोड़ कर चलने से कला के विकास के रहस्यों को समझा नहीं जा सकता। हमने मध्य प्रदेश, छत्तिसगढ़, महाराष्ट्र, उड़ीसा और उड़ीसा से जुड़े बिहार, बंगाल के साथ जुड़े उत्तर–पूर्व के पहाड़ी

क्षेत्रों की आदिवासी–संस्कृति पर शैलचित्रों के प्रभाव को समझने का प्रयास किया। वनों और गिरि–कन्दराओं में जीने वाले भारत के मूल वासी, आदिवासी, पिछले हजारों वर्षों से भारत की मूलभूत जीवन–शैली का संरक्षण करते आ रहे हैं। यह जीवन–शैली वनाधारित है और इसीके अनुरूप, उनकी लोककलाओं, भित्तिचित्रों और गोदना पर वन्य जीवन की गहरी छाप परिलक्षित होती है।



अब यहाँ विचार करना है कि भारतीय भू–भाग पर, पहले की अपेक्षा अधिक विकसित कृषि के साथ, आर्थिक रूप से महत्वपूर्ण परिस्थिति के निर्माण में इतिहास की किस घटना का विशिष्ट प्रभाव पड़ा। वैज्ञानिक अध्ययना के आधार पर, कहा जाता है कि कृषि की शुरुआत लगभग दस हजार वर्ष

पहले हुई। इससे पहले मनुष्य पूर्णतः घुमन्तू या गुफाओं में वास करने वाला, फल, कन्दमूल या शिकार करके अपनी भूख मिटाने वाला प्राणी था। धीरे-धीरे बढ़ती जरूरतों ने उन्हें समूह में रहना सिखलाया। माना गया है कि भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में पहले-पहल विकसित कृषि के साथ, उसके रख-रखाव के लिए , अनेकों गाँव बसे और गाँवों की जरूरत पूरा करने के लिए हुनर, लोककला विकसित हुई।



लगभग पाँच हजार वर्ष पहले, भारत के उत्तर-पश्चिमी भू-भाग पर, पहली बार एक राजनैतिक पद्धति विकसित हुई जिसने मानव-जाति के इतिहास में, उसके आर्थिक, सामाजिक और सामाजिक ढाँचे

में, महान अभ्युदय का सूत्रपात किया। सन् 1920–'22 से, तत्कालीन भारत के हड़प्पा (पंजाब) और सिन्धु नदी (वर्तमान पाकिस्तान) के क्षेत्र में पुरातात्विक उत्खनन के कार्य प्रारंभ हुए। इस खनन से दो बड़े स्थलों पर — पाकिस्तान के कोट दिजी और राजस्थान (भारत) के काली बंगन में पुरातत्वविदों ने पहले से विकसित एक ग्रामीण संस्कृति के शहरी संस्कृति में उत्परिवर्त्तन का पता लगाया। ज्यों–ज्यों उत्खनन का कार्य आगे बढ़ता गया, पाकिस्तान के मोहेनजो दारो, चान्हू दारो, आमरी और राजस्थान के कालीबंगन से गुजरात के लोथल और उससे आगेमहाराष्ट्र तक फैले एक अति विकसित शहरी संस्कृति के अवशेष पर से पर्दा उठता गया। सिन्धु नदी के आस–पास और भारत के हड़प्पा में उत्खनन प्रारंभ होने के कारण पुरातत्वविदों ने उस महान संस्कृति को सिन्धु घाटी–संस्कृति या हड़प्पा–संस्कृति नाम दिया।

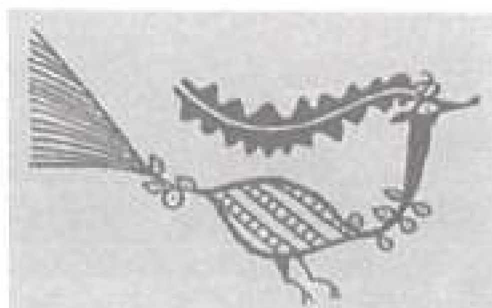
हड़प्पा–संस्कृति या सिन्धु घाटी–संस्कृति के नगर सघन आवादी वाले थे जिनका विकास योजनाबद्ध ढंग से हुआ था। ये नगर एक किलानुमा दीवार के भातर होते थे, जिसके भीतर उच्च और निम्न स्तर के नगर आन्तरिक प्राचीर द्वारा पृथक किये गए थे। इन नगरों के कुछ भवन विलासितापूर्ण थे तो कुछ भवन एक कमरे वाला साधारण निवास थे। उनके भवन पकी ईंट से बने थे। हड़प्पा–संस्कृति क लोगों ने माप–तौल की सटीक मानक पद्धति विकसित की थी। उनक समाज में ताँबा और कांस्य के अतिरिक्त सोना और बहुमूल्य रत्न–पत्थरों का व्यवहार होता था। उनके आभूषण बहुत आकर्षक होते थे। कहा जाता है कि मैसूर (भारत) के सोना खदानों से निकला सोना उनके बाजारों में बिकते थे। उनके यहाँ, आम लोगों के कल्याण क लिए, बड़े–बड़े खाद्यान–भंडार बनाये गए थे। यद्यपि कि उनकी लिपि अभी तक पठनीय नहीं हो सकी है, किन्तु यह एक बड़ी बात है कि उनके समाज में लेखन का प्रचलन था। वे दूर–दूर के क्षेत्रों तक व्यापार करते थे। भूमि पर और जलमार्ग से परिवहन की उनकी व्यवस्था अच्छी थी। ये सभी तथ्य उनकी सामाजिक और आर्थिक योजनाकरण में विशेषज्ञता की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं। हड़प्पा–समाज में टेराकोटा, पत्थर और धातु के खिलौने, पात्रा और विलक्षण मुर्तियाँ बनती थीं। ये सभी अत्यंत कलात्मक थे। माप–तौल की प्रमाणिकता, उनकी रचनात्मक कल्पनाशीलता और सधे हुए हाथों की प्रवीणता ने उनकी कारीगरी को उत्कृष्ट बना दिया था। पकी मिट्टी के बरतनों, बड़े भांडों पर की गयी चित्राकारी देख कर आज भी मन आश्चर्य से भर उठता है। टेराकोटा से बनी स्त्री और पशुओं की मुर्तियाँ उनकी सामाजिक और धार्मिक मान्यताओं के सम्बंध में बहुत कुछ बोलती



लोथल (गुजरात) के नागर शैलीय चित्रित पात्र

हैं। हजारों की संख्या में प्राप्त हुए मुहर ़मंसद्ध उनकी कलात्मक प्रतिभा के अद्भुत नमूने हैं। हड़प्पा के मुहरों पर अंकित कुछ दृश्य मध्य प्रदेश के शैलचित्रों से करीबी साम्य रखते हैं।

भारत के उत्तर–पश्चिमी भाग में हँसती–खेलती, स्वयं विकसित पहली राजनीतिक पद्धति, हड़प्पा–सभ्यता का ईसा पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के मध्य काल में लोप हो गया। इसके पतन के कारणों का अभी तक ठीक–ठीक पता नहीं चल पाया है, किन्तु विद्वानों का मानना है कि आर्यों के आक्रमण से ये नगर ध्वस्त हुए। इस बात का यद्यपि कि कोई पुरातात्विक प्रमाण उपलब्ध नहीं है, किन्तु आर्यों का महान काव्य, ऋग्वेद, विनाश की उस दारुण घटना का संकेत अवश्य करता है। अपने हजारों पशुओं के साथ चारागाह की खोज में घूमते रहने वाले, गोरी चमड़ी वाले, आर्यों ने विश्व की एक महान सभ्यता को नष्ट कर दिया। काली चमड़ी वाले स्थानिक लोग, भारत–भूमि के मूल वासी, मध्य भारत के वन–क्षेत्रा में, बहुतों ने दक्कन के समाज में शरण पायी। उन्होंने सब कुछ गँवा कर भी अपने अतीत की स्मृति को, गोदना के रूप में, अपनी देह से लगाए रखा।



मिथिला (बिहार) में गोदना का व्यवहार, आज के दिनों में, मात्रा गाँवों में रहने वाली दलित जातियों तक सीमित हो गया है। पिछली शताब्दी, कम से कम 1930–'35 ईस्वी तक, इसका प्रचलन प्रायः सभी जाति की स्त्रियों में था। इस लेखक ने कई कायस्थ महिलाओं के शरीर पर गोदना के भरपूर चित्रा देखा था। बाद के वर्षों में यह दलितों तक सिमट गया। इस प्रचलन के पीछे कई तरह की मान्यताएँ रही हैं। आज से करीब चालीस वर्ष पहले, एक वृद्ध कायस्थ महिला ने इस लेखक को बताया कि किसी समय में, जब मिथिला में मुसलमानों का शासन था, सेना या प्रशासन के लोग किसी भी सुन्दर महिला को बलपूर्वक उठा ले जाते थे। उन दिनों मात्रा शूद्र (आज के दलित) महिलाएँ गोदना करवाती थीं, किन्तु जब मुस्लिम शासकों का अपहरण–अत्याचार बढ़ने लगा तब हिन्दुओं ने एक उपाय खोजा। गोदना में प्रयोग होने वाला रंग सूअरों की चर्बी में घोला जाने लगा। धार्मिक मान्यता के आधार पर मुसलमान सूअर से तोबा करते हैं। उस नये प्रयोग का परिणाम अच्छा हुआ। जिस स्त्री की देह पर गोदना बना रहता था, बलात्कारी उसे नहीं छूते थे। इस बात का कोई ऐतिहासिक प्रमाण तो उपलब्ध नहीं है, किन्तु इसकी पुष्टि नेपाल की कई स्त्रियों ने भी की।

मिथिला में आज जो दलित हैं, गांधीजी उसीको हरिजन कहते थे और ब्राह्मणधर्म ने उसीको शूद्र, अर्थात अधम प्राणी कहा। मिथिला के इतिहासकार उपेन्द्र ठाकुर ने भ्पेजवतल व ि डपजीपसं में, ब्राह्मणधर्म में, शूद्रों और स्त्रियों की स्थिति पर विस्तृत विवेचन किया ह। ऐतरेय ब्राह्मण में शूद्रों की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि "शूद्र अन्य सभी वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) का सेवक है, उसे कभी भी वहिष्कृत किया जा सकता है और कभी मारा जा सकता है। ऐतरेय ब्राह्मण की इस अवधारणा को मनु ने विधान बना कर वैधानिक रूप दे दिया। 'मनुस्मृति' के अनुसार, शूद्र के लिए प्रजापति ने एक ही आज्ञा दी है, वह यह कि शूद्र बिना ईर्ष्या या विरोध के ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की सेवा करता रहे। शूद्रों को भू–सम्पदा या किसी अन्य प्रकार की सम्पत्ति रखने से वंचित कर दिया गया। उसके पास यदि कोई वस्तु या सम्पदा हो, तो कोई ब्राह्मण या क्षत्रिय अपनी इच्छा से वह वस्तु या

सम्पत्ति उससे कभी छीन सकता था। हर प्रकार की सम्पत्ति से वंचित शूद्र आर्यो या ब्राह्मणों के गुलाम हो गए। ऐतरेय ब्राह्मण और मनुस्मृति की अवधारणा को दण्ड–प्रक्रिया के अन्तर्गत परिभाषित करते हुए महर्षि गौतम ने शूद्रों के लिए इस प्रकार का दण्ड–विधान किया —

शूद्रो द्विजातीनभिसन्धायाभिहत्य च वाग्दण्ड, पारुष्याभ्यामंगं माच्यो येनोपहन्यात्। आर्यस्त्रयभिगमने लिंगोद्धारः, स्वप्रहरण च गोप्ता चेद्वधोधिकः।। अथाहास्य वेदमुपश्रृण्वतस्त्रापु, जतुभ्यां श्रौतपरिपूरणम्, उदाहरणे जिह्वाच्छेदः धारणे शरीरभदः, आसन शयन वाक्पथिषु समप्रप्सुर्दण्ड्य शतम्।।

"शूद्र यदि किसी द्विज के प्रति तिरस्कारयुक्त वचन कह और कठोर भाव से प्रहार करे तो राजा उसके उसी अंग को कटवा दे जिससे वह आघात करता है; यदि शूद्र अपने से बड़ी जाति की स्त्री के साथ सम्भोग करे तो राजा उसका लिंग कटवा दे अथवा वह (शूद्र) स्वयं अपनी जान दे दे, और यदि वह अपनी रक्षा का प्रयास करे तो उचित यही है कि राजा उसका वध करे। शूद्र यदि किसी वेद–मन्त्र का उच्चारण करे तो राजा उसकी जीभ कटवा दे। यदि वह आसन, बिस्तर, बातचीत तथा राह में उच्च जातियों की बराबरी करे तो राजा उसे सौ पण का दण्ड दे।" इसी नियम के अधीन, शम्बूक नामक शूद्र द्वारा तपस्या करने के कारण, अयोध्यापति राम ने उसे मृत्यु–दण्ड दिया और उस शूद्र की तत्काल हत्या कर दी गयी। आर्यों द्वारा स्थापित ब्राह्मणधर्म में चतुर्वण व्यवस्था — ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णो की श्रेणी — में शूद्रों की स्थिति पशुओं से भी हीन थी। शूद्र पुरुष और स्त्री ब्राह्मण और क्षत्रियों की विलासिता और कामुकता के साधन थे जिसे विधान बना कर पक्का कर दिया गया। शूद्रों से पृथक, शेष तीनों वर्णों की स्त्रियों की दशा भी अत्यंत सोचनीय थी। ब्राह्मण आचार्यों और ग्रन्थकारों ने " स्त्री, शूद्र और कुत्ता" को एक ही श्रेणी में रखते हुए, अनृत, झूठा, पाप का द्वार कहा। वैदिक काल म पुरुषों को एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने की अनुमति थी, जबकि स्त्रियों को पर–पुरुष से बात करने या किसी प्रकार का सम्बंध रखने, हँसने, मुँह खोल कर घर से बाहर निकलने की शख्त मनाही थी। स्त्रियों के सम्बंध में मनु ने व्यवस्था दी कि —



स्वभाव एष नारीणां नराणामिह इषणम्। अतो'र्थान्न प्रमाद्यन्ति प्रमदासु विपश्चितः।।

"(हास्य आदि के द्वारा) मनुष्यों के शील और धर्म का नाश करना स्त्रियों का स्वभाव है, इसलिए स्त्रियों के विषय में बुद्धिमानों को कदापि असावधान नहीं रहना चाहिए।" आर्यों की महान (?) संस्कृति में, सभी वर्णो की स्त्री पराधीनता के दोहरे बंधन में जकड़ी हुई थी। विशेष रूप से यौन मामलों में उसकी अपनी किसी इच्छा का स्थान नहीं था, बल्कि ब्राह्मण ग्रन्थों ने, समागम के लिए, पति को बलात्कार करने का अधिकार भी दे रखा था। 'वृहदारण्यकोपनिषद' के चौथे ब्राह्मण में उल्लेख है कि —



स चेदस्मै न दद्यात्काममे–नामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात् काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति।

"पत्नी यदि पति को मैथुन नहीं करने दे तो पति उसे उसकी इच्छा के अनुसार वस्त्र, आभूषण आदि देकर उसके प्रति अपना प्रेम प्रकट करे। इतने पर भी यदि वह मैथुन का अवसर नहीं दे तो वह पति दण्ड का भय दिखा कर उसके साथ बलपूर्वक समागम करे और उसे बन्ध्या होने का शाप दे।"

युग पर युग बदले, किन्तु स्त्रियों और शूद्रों की स्थिति में कोई बड़ा बदलाव नहीं आया। हर तरह की सम्पत्ति से वंचित शूद्र ब्राह्मणों और क्षत्रियों के कृषिदास बन गये। शूद्र उनके लिए किसी वस्तु की तरह थे। उनका उपयोग कब किस तरह से होगा, यह उनके स्वामी तय करते थे। वे एक उपहार की वस्तु भी थे और ब्राह्मणों या क्षत्रियों को दिए जाते थे, खास कर शूद्र स्त्रियाँ। महान दार्शनिक राजा के रूप में प्रसिद्ध, मिथिला के राजा जनक भी ब्राह्मणों को शूद्र–उपहार देते थे, और यह कार्य करते हुए उन्हें कभी धर्म–संकोच नहीं हुआ। वृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार, महान दार्शनिक याज्ञवल्क्य भी गुलाम–उपहार लेने वालों में सम्मिलित थे। आगे चल कर गुलामों की खरीद–बिक्र शुरू हुई। विद्यापति के समय में तुर्क मुसलमानों के दबदबा के कारण हिन्दुओं की दशा बहुत खराब थी, किन्तु उस समय भी शूद्रों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। 'कीर्त्तिलता' में, जौनपुर के बाजार में, अलग–अलग जगहों पर, पुरुष–गुलाम और स्त्री–गुलामों की बिक्री का उल्लेख हुआ है। बीसवीं शताब्दी आते–आते गुलामों की खुलेआम बिक्री तो समाप्त हो गयी लेकिन मिथिला में 'बहिया' के नाम से उनका अस्तित्व बना ही रहा।



ऐसा प्रतीत होता है कि जब गुलामों का बाजार तेज हुआ, तब अलग–अलग मालिकों ने अपने गुलामों के शरीर पर अपने स्वामित्व का कोई चिन्ह छापने लगे। वैसे भी, भारत–भूमि के इन असली हकदारों के शरीर पर गोदना का चित्राण आर्यों के आगमन से बहुत पहले से हो रहा था। गोदना–प्रथा के साथ उनकी अनेक आस्थाएँ जुड़ी हुई हैं। गोदनाधारी कुछ महिलाओं ने इस लेखकद्वय को बतलाया कि गोदना कराने वाली औरतें मरने के बाद अपनी माँ से मिल सकती ह। यह उनका भोलापन है। इन्हें नहीं पता है कि इनके गोदना के दर्द की कहानी कितनी गहरी है।

मिथिला के गाँवों में गोदना का एक लोकगीत बहुत लोकप्रिय है। इस गीत में उल्लेख हुआ है कि उत्तर के देश से, नेपाल से, अथवा हिमालय की पहाड़ियों से एक नटिनित्रा (घुमन्त् नट जाति की स्त्राी, जिसे स्थानीय लोग करोड़िया भी कहते हैं) आयी और एक घर के पास वाले चन्दन पेड़ की एक डाली पर बैठ गयी। उस समय घर की नयी नवेली बधू आँगन बुहार रही थी। पेड़ पर बैठी नटिनित्रा की नजर बधू के मुख पर पड़ी, दोनों की आँखें मिलीं और बध् के मन में गोदना गोदवाने की इच्छा जग गयी, मगर उसके पास नटिनित्रा को देने के लिए रुपये–पैसे नहीं थे। उसने अपनी सास से कहा,अगर वह अपने कोसल (बचत–खजाना) सेनिकाल कर रुपये दे तो वह गोदना गोदवा लेगी। सास ने कहा कि उसके पास एक कौड़ी भी नहीं है, वह अपने ससुर से मांग ले। श्वसुर ने कहा कि उसके पास रुपया नहीं है, सो वह अपने भैंसुर (पति का बड़ा भाई) से मांग ले। खेत से हल चला कर, कुदाल चला कर थका माँदा भैंसुर आया और घर की देहली पर बैठ गया। उससे भी बधू ने रुपया मांगा। भैंसुर ने कहा कि उसके पास रुपया नहीं है, अपनी गोतनी (पति की भाभी) से मांग ले। गोतनी भनसा घर मे खाना बना रही थी। उसने कहा कि उसके पास रुपया नहीं है, अपने पति से मांग ले। उसने अपने पति से कहा कि वह साँबर–गोदना गोदवाना चाहती है, इसके लिए रुपया दे। उसके पति ने कहा कि गोदना गोदवाने में बहुत दर्द होता है, उसके जैसी कोमल सुन्दरी गोदना का दर्द कैसे बर्दाश्त करेगी? पति को जवाब देते हुए बधू ने बतलाया कि गोदना का दर्द घड़ी–पहर में दूर हो जायगा, जब उसके साथ रात भर सहवास का दर्द वह सहन कर लेती है तो गोदना का दर्द भी अँगेज लेगी। ....
गीत इस प्रकार है —

"उत्तरहि राज सँ अयलइ एक नटिनित्रा रे जान, जान, बैसि रे गेलइ चन्दन बिरिछिए रे जान। अंगना बहारइ छली सुन्दरी पुतहुआ रे जान, जान, पड़ि गेलइ मुख पर नटिनि नजरिया रे जान। मचिया बैसल तोंहें सासुजी बरइतिनि रे जान, जान, दियौ सासु कोसल के रुपइया रे जान। सुन' सुन' सुन' पुतहू हमरा ने एको कौड़िया रे जान, जान, मांगू पुतहू ससुर बरइतबे रे जान। खटिया बैसल तोंहें ससुर बरइतबे रे जान, जान, देहो ससुरजी गोदना के रुपइया रे जान। हमरा ने सुहबे पुतहू एकहू रुपइया रे जान, जान, मांगी लिय' भैंसुर बरइतब रे जान। हर जोति अयलइ बाबू पाड़ि के कोदरिये रे जान, जान, बैसि रे गेलइ देहरी झमाइये रे जान। देहो देहो भैंसुर बाबू गोदना के रुपया रे जान, जान, मांगि लेहू दुलहिन अपना गोतनी से जान। भनसा बैसल तोंहें गोतनी बरइतिन रे जान, जान, देहू गोतनी गोदना के गोदाई रे जान। हमरो के आहे दुलहिन एको ने रुपइया रे जान, जान, मांगि लेहू पियबा बरइतबे रे जान। देहो देहो आहे पियबा गोदना गोदाई रे जान, जान, हमहूँ साँबर गोदना गोदायब रे जान। गोदना दरदिया सुन्दरि तोंहें कोना सहबें रे जान, जान, मांगइ छहो धनी तोहें रुपइया रे जान। गोदना दरदिया पियबा घड़ी रे पहरबा रे जान, जान, तोहरो दरदिया सारी रतिया रे जान।"

गोदना से सम्बंधित एक और लोकगीत, होली–गीत के रूप में, मिथिला में होली के दिनों में, बहुत जोश के साथ गाया जाता है। इस लेखक को कुछ कबीरपंथी लोगों ने बताया कि यह गीत कबीर

की रचना है। इस गीत में नायिका गोदना गोदवा कर अपने पति की सेज पर गयी है, गोदना की पीड़ा से आक्रान्त हो कर। कबीर के रहस्यवाद में भक्त अपने आप को ईश्वर की पत्निका मानता है; उसका आराध्य ही उसका पति होता है, जिसके लिए उसका तन–मन अर्पित होता है। गोदना यहाँ दीक्षा की कठिन साधना का प्रतीक है। गीत इस प्रकार है —

"गोरी कहमा गोदौले गोदना, गोरी कहमा गोदौले गोदना, आहे पिया के पलंग पर रोदना, गोरी कहमा गोदौले गोदना। गोरी, अँहिया गोदौले, आरे बँहिया गोदौले, बाँकी रहल दुनू जौबना,गोरी कहमा गोदौले गोदना।"

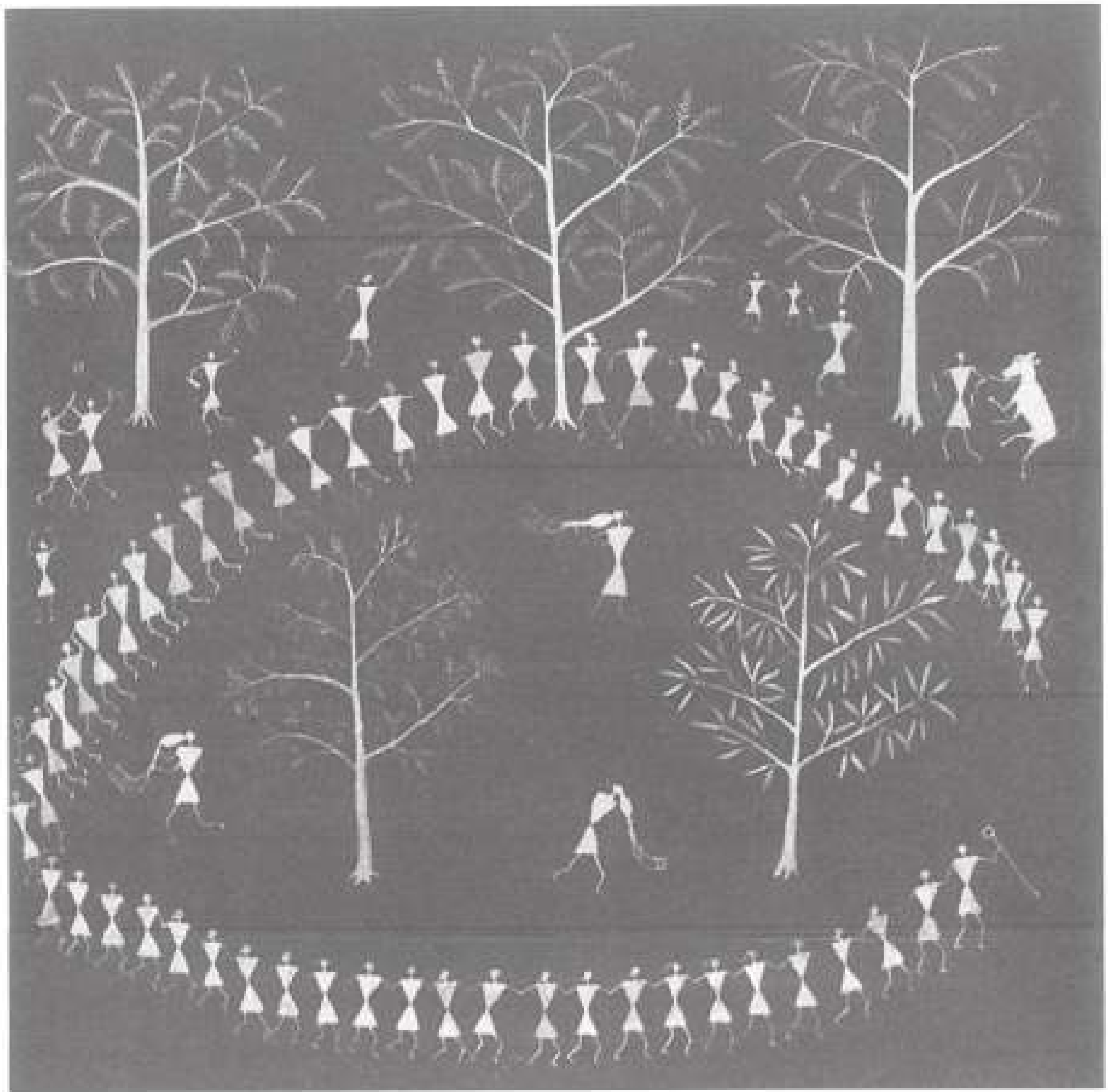
मिथिला की लोककथाओं मे भी गोदना का उल्लेख हुआ है, तन्त्रा–साधना की कठिन दीक्षा के रूप में। इन कथाओं मे गोदना की शिल्पी, नटिनिञा का उल्लेख योगिनी के रूप में हुआ है जो साँबर–तन्त्रा की सिद्धि के बाद साधक की बाह पर गोदना के तान्त्रिक प्रतीक गोदती है। (साँबर–तन्त्रा के लिए लेखक का "**मिथिला अरिपन**" देखें)।



गोदना से मिलती–जुलती, अकष्टकर, दर्द से दूर, देह–चित्राण की एक और कला भारतीय स्त्रियों मे बहुत लोकप्रिय है, मेंहदी की कला। बहुत संभव है कि इस कला का उद्भव गोदना से ही हुआ हो। इस कला के लिए मेंहदी के पेड़ से पत्तों को तोड़ कर उसे पत्थर पर महीन पिसा जाता है। उस लेप को कलात्मक रूप से स्त्रियाँ अपनी हथेली, बाजू और पैर के तलवों में लगाती हैं। यदि कुछ देर तक बनाए गये डिजाइन से छेड़छाड़ नहीं किया जाय तो सुन्दर लाल रंग का डिजाइन उभर आता है। यद्यपि कि मेंहदी का चित्रा चिरस्थायी नहीं होता है, फिर भी दो–तीन दिनों तक तो इसकी रंगदार छाप रहती ही है। दस वर्ष पहले तक मेंहदी का प्रयोग गाँवों तक सीमित थाऔर इसे बनाने वाली और इसे बनाने वालीअथवा बनवाने वाली महिलाए पर्व त्योहार या शादी के अवसरों पर, शौकिया तौर पर बनाती थीं, लेकिन अब महानगरों में यह काम व्यावसायिक रूप से भी शुरू हो गया है।



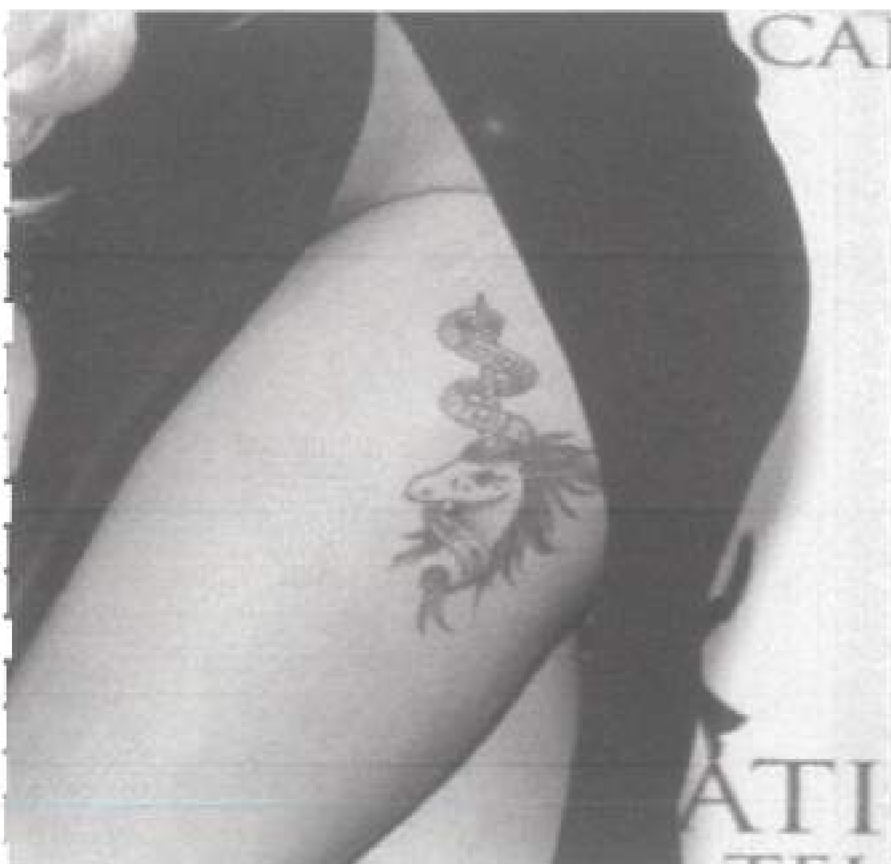
मध्य प्रदेश, छत्तिसगढ़, महाराष्ट्र, उड़ीसा और उत्तर–पूर्व के राज्यों में फैले शैलचित्रों, हड़प्पा के कला–प्रतीकों और गोदना के मिलेजुले प्रभाव ने भारतीय आदिवासी शिल्पियों को परिकल्पना का अथाह भण्डार प्रदान किया।इन आदिवासी लोकचित्रों में मनुष्य का वन के साथ साहचर्य और वन्य जीवों के साथ उनके पारस्परिक सम्बंध का चित्राण हुआ है। महाराष्ट्र का वार्ली लोकचित्रा भारतीय लोककला के बाजार में एक चर्चित कला है ––



जिस प्रकार बिहार का मिथिला लोकचित्रा और गोदना लोकचित्रा कला के बाजार में बहुत लोकप्रिय हैं, उसी प्रकार छत्तिसगढ़, मध्य प्रदेश, उड़ीसा के आदिवासी लोकचित्रा भी कला–बाजारों का मुख्य आकर्षण होते हैं।

हजारों वर्षों की साहसिक यात्रा और रत्ती भर पाथेय। अपने मूल स्रोत, कंदराओं, गुफाओं में उत्कीर्ण शैल–चित्रों से निकल कर गोदना की देह–कला आज तक चलती ही रही, एक से एक बीहड़–अनजान पथ पर। अनेकों उपत्यका, वन, मरुथल को लाँघते उसके चरण जहाँ भी पड़े, वह लोककला अपने को पसारती, आगे बढ़ती चली गयी। जब बहुत कुछ आबाद भी नहीं हुआ था, उसके चाहने वाले तब भी कम नहीं थे। उसके सामने जनपद जन्मे, कबीले गठित हुए। किसी ने उसे अपनी परिचिति कह कर, किसी ने पूर्वजों की स्मृति कह कर तो किसी ने उसे धृति मान कर धारण कर लिया। इतिहास ने बहुतों को भुला दिया मगर गोदना की देह–कला उससे जो चिपकी, सो चिपकी ही रही। कितने राजे–रजवाड़े उठे और गिरे, गोदना की अस्मिता कभी कम नहीं हुई। इसे शूरों ने भी अपनाया और सुन्दरियों ने भी। स्त्रियों के तन पर इसकी बाहरी छाप दूसरों के लिए होती है, जबकि भीतरी अंगों पर इसकी उपस्थिति महज उसके लिए, स्वयं के लिए होती है और जन्म–जन्मान्तर तक

उसकी सहचरी बन कर रहती है। ... . हाल के वर्षों मे, लगभग पूरे विश्व में, युवाओं ने गोदना को यौवन का स्थायी आह्लाद मान कर अपना लिया है। पिछले दिनों एक समाचार प्रकाशित हुआ, बॉलीवुड (भारत) की सिनेमा–तारिकाओं ने एक ''टैट्टू क्लब'' बनाया है। इन्टरनेट पर सोलह तारिकाओं के चित्रा प्रकाशित हुए, जिन्होंने अपने अंगों पर गोदना बनवा रखे थे।

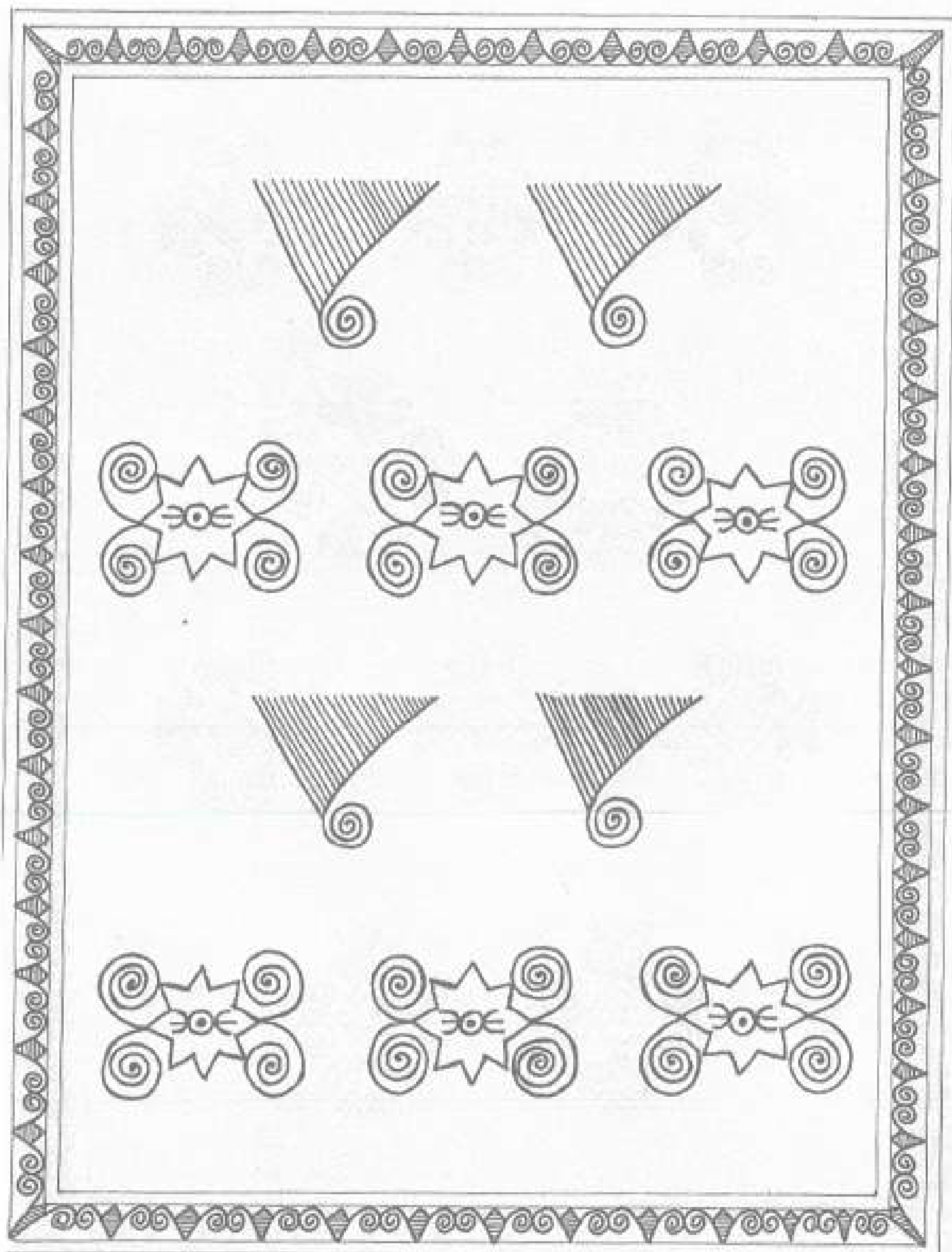


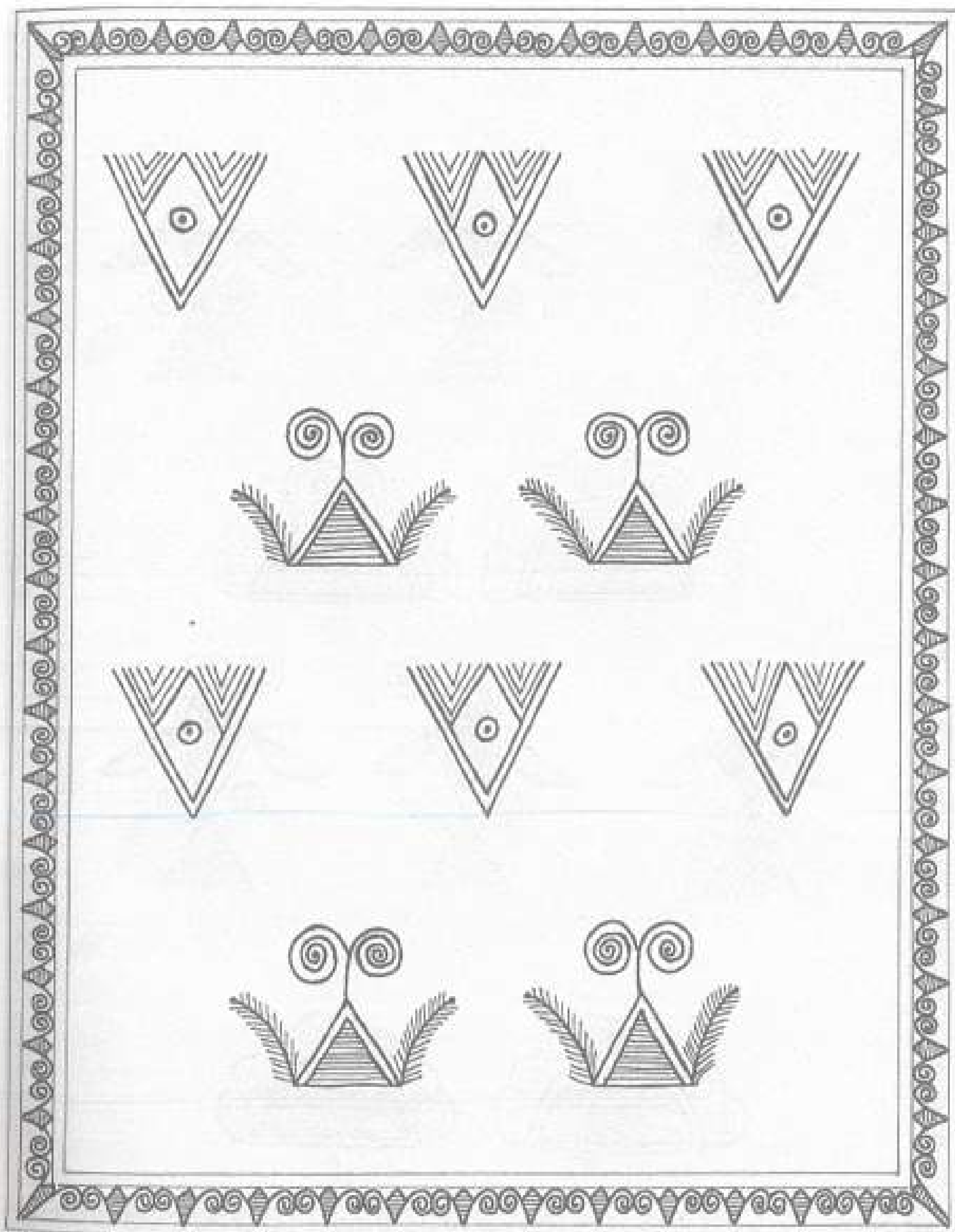
आधुनिक युग में, आदिवासियों और दलित समुदाय से बाहर के समाज में, गोदना शरीर को आकर्षक बनाने के एक साधन के रूप में देखा जाने लगा है। कला की अन्य शाखाओं के अनुरूप ही, गोदना भी आधुनिक फैशन की दुनिया में एक कला है, जिसके साथ सौन्दर्यबोध की अनुभूति, धैर्य और कलात्मक निपुणता जुड़ी हुई है। फैशन के तौर पर गोदना बनवाने वालों का मुख्य उद्देश्य दूसरों से भिन्न दिखना, आकर्षक दिखना है। ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो अपने गुप्तांगों पर भी गोदना बनवाते हैं। भारत के कई महानगरों में, आधुनिक औजारों से गोदना बनाने वाले पार्लर खुल गये हैं, जहाँ फैशन के रंग–ढंग के अनुसार आधुनिक डिजाइन बनाए जाते हैं।

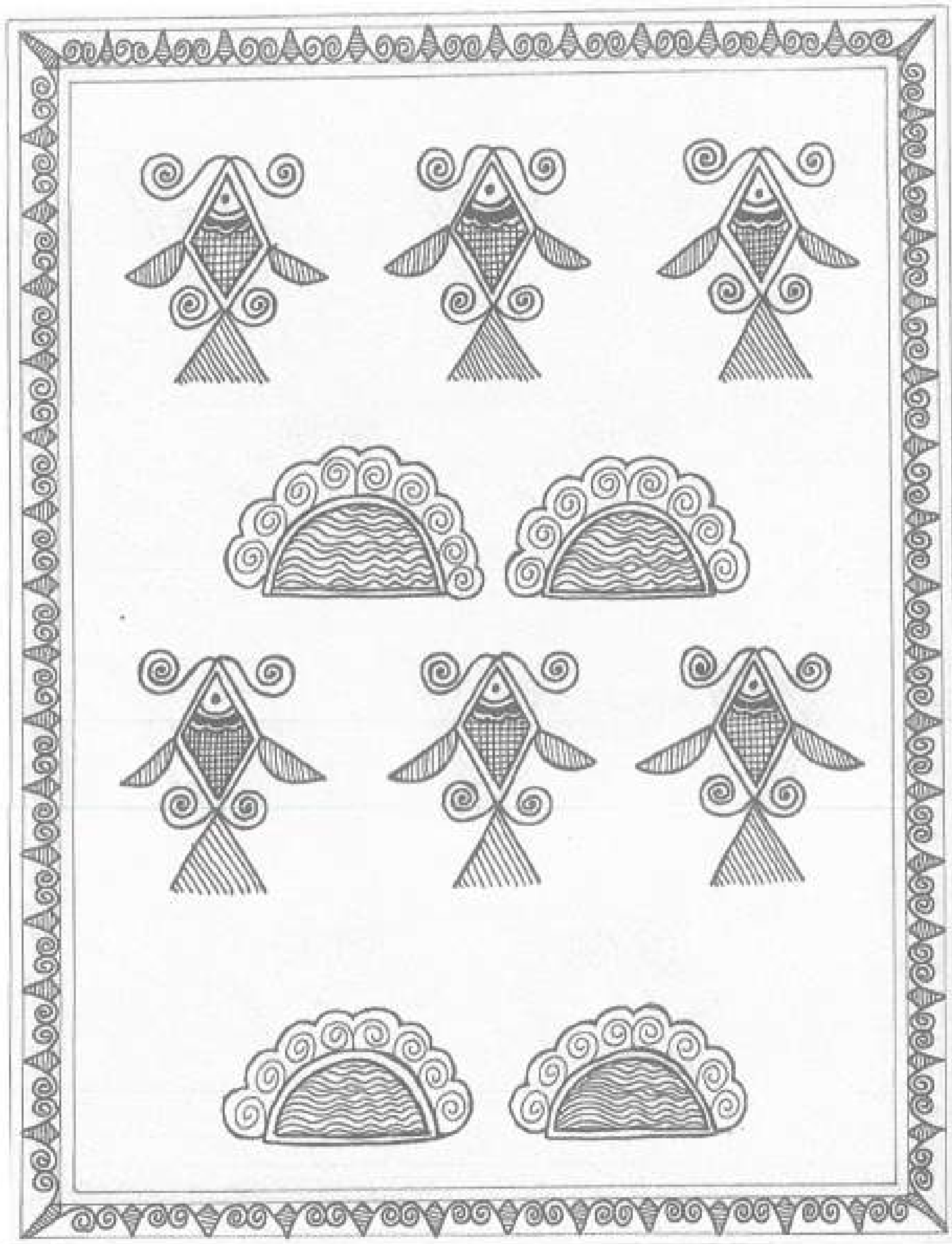
गोदना बूटी

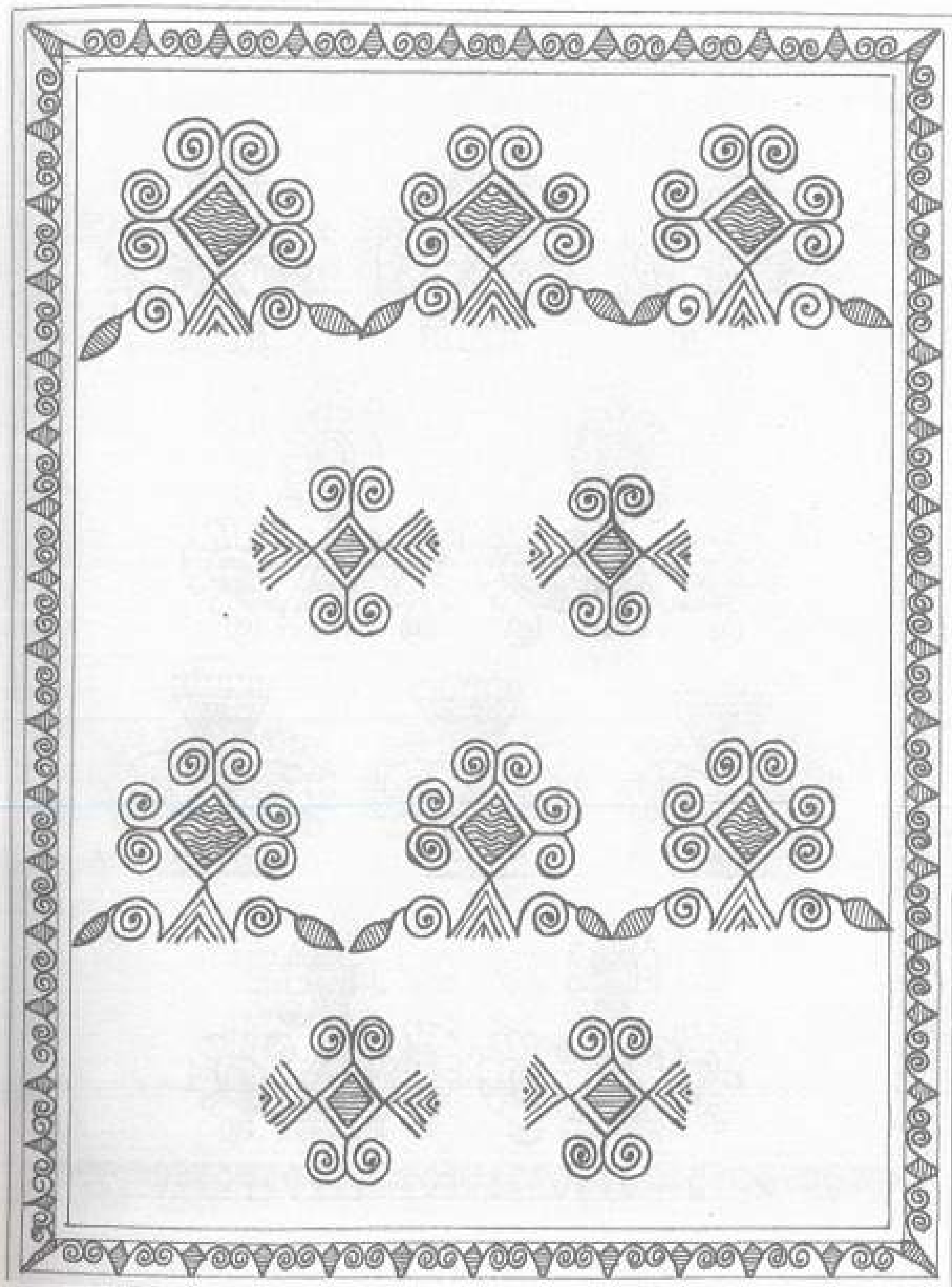




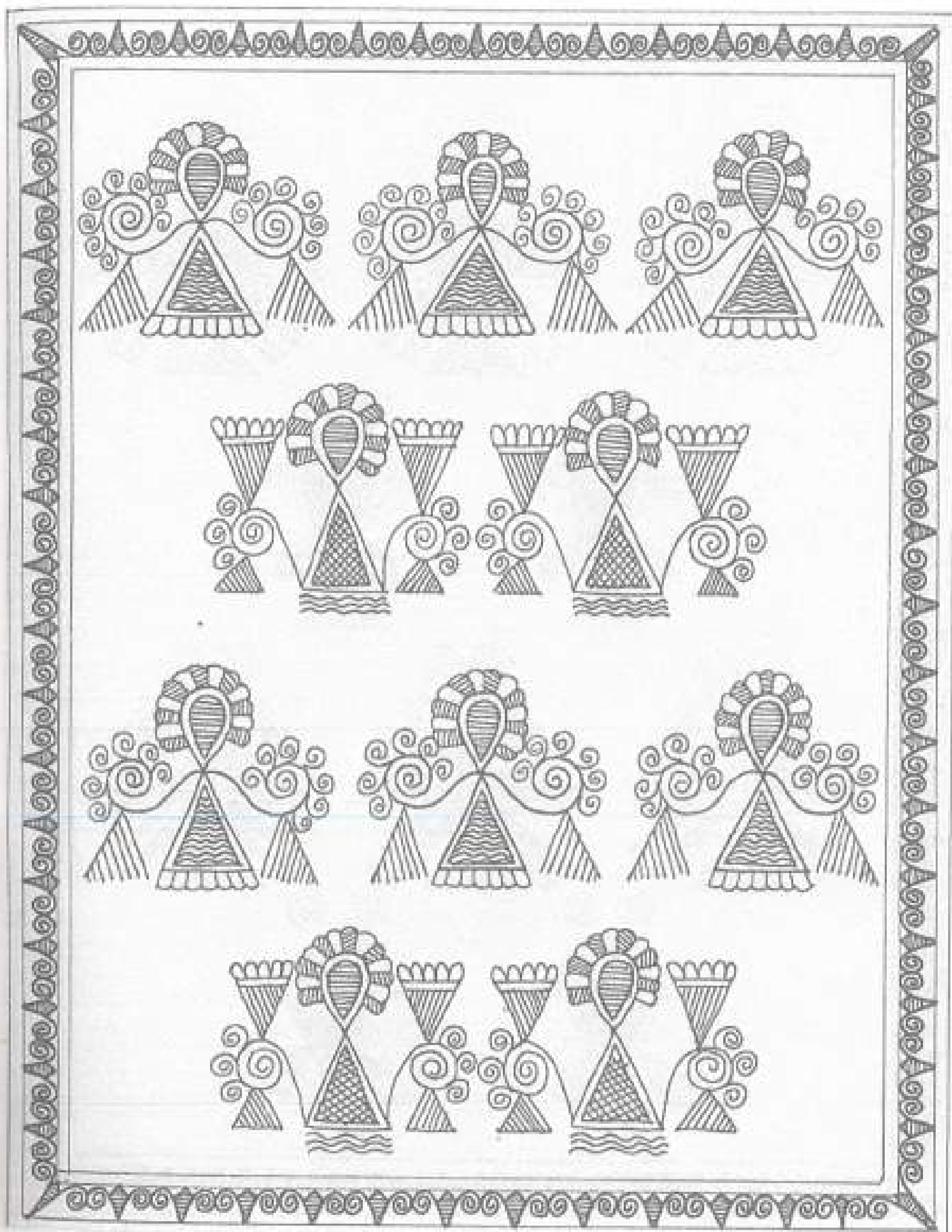


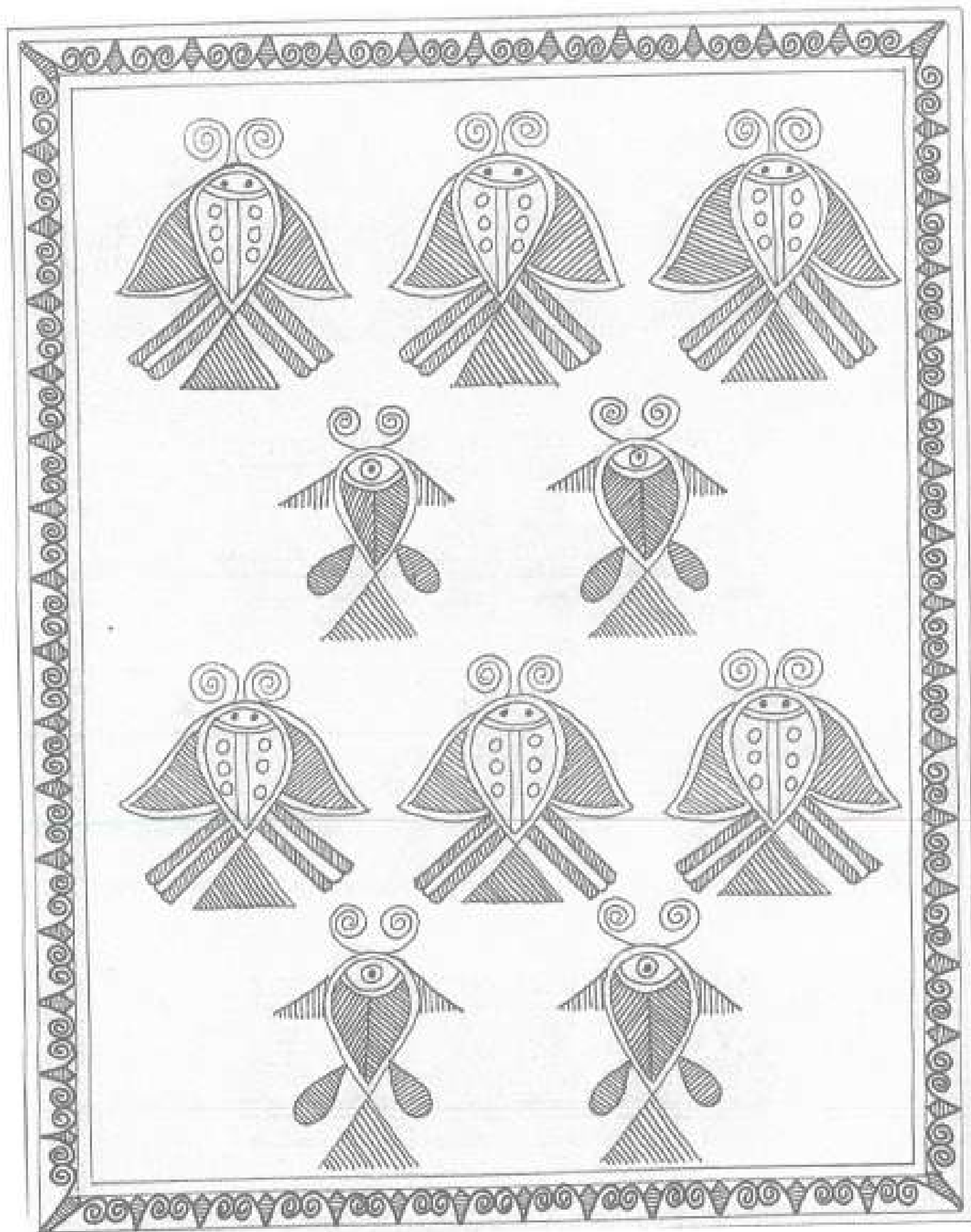




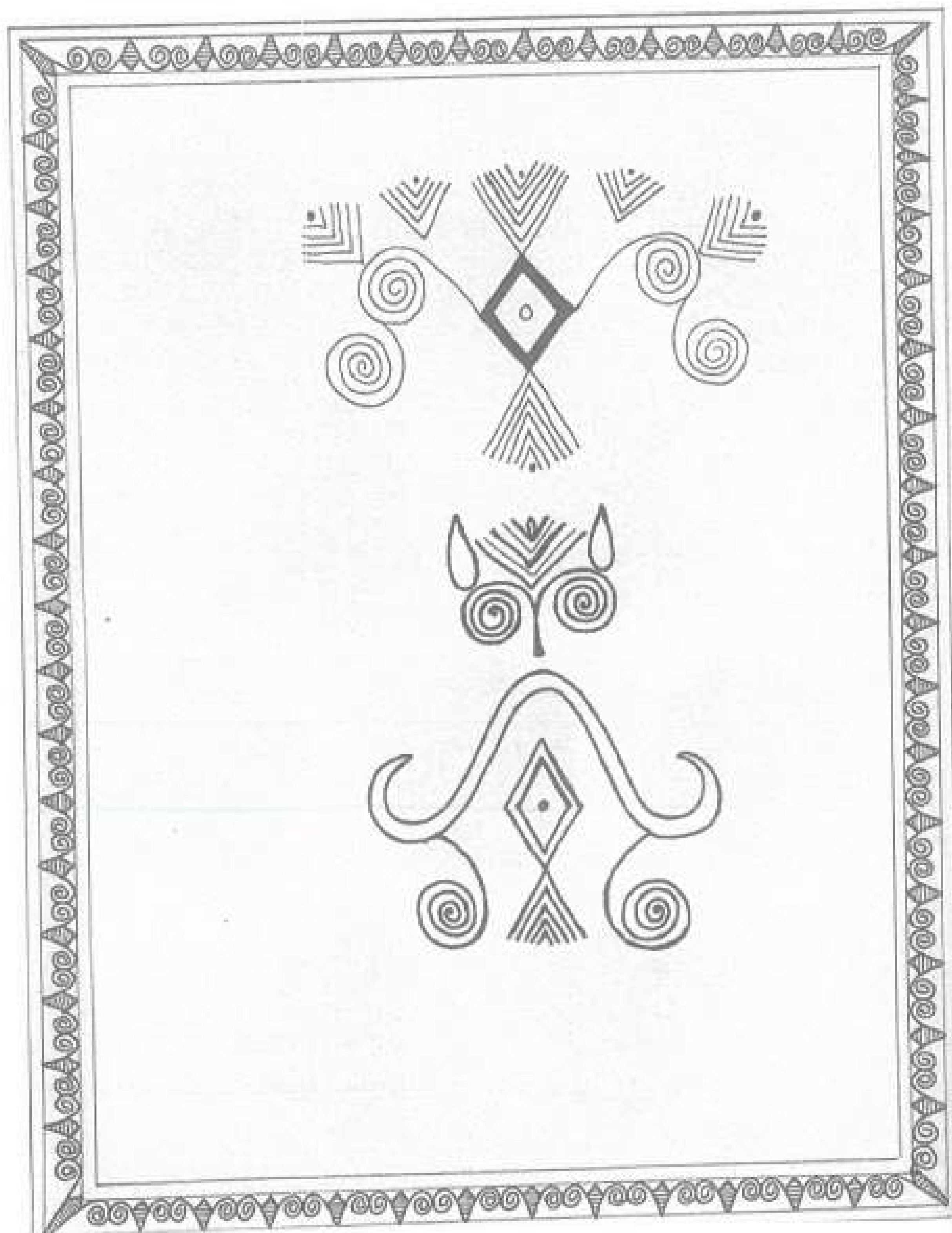




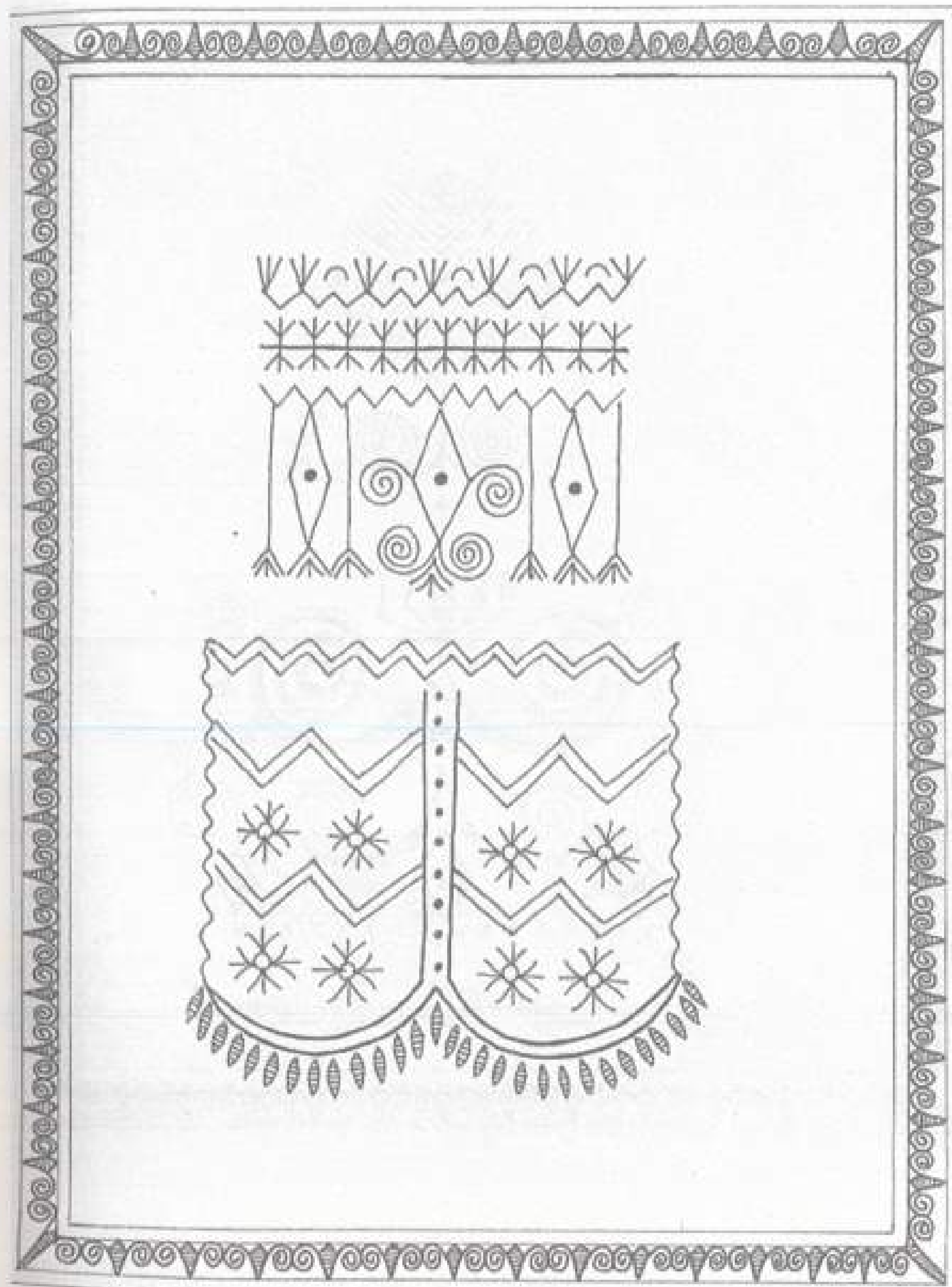


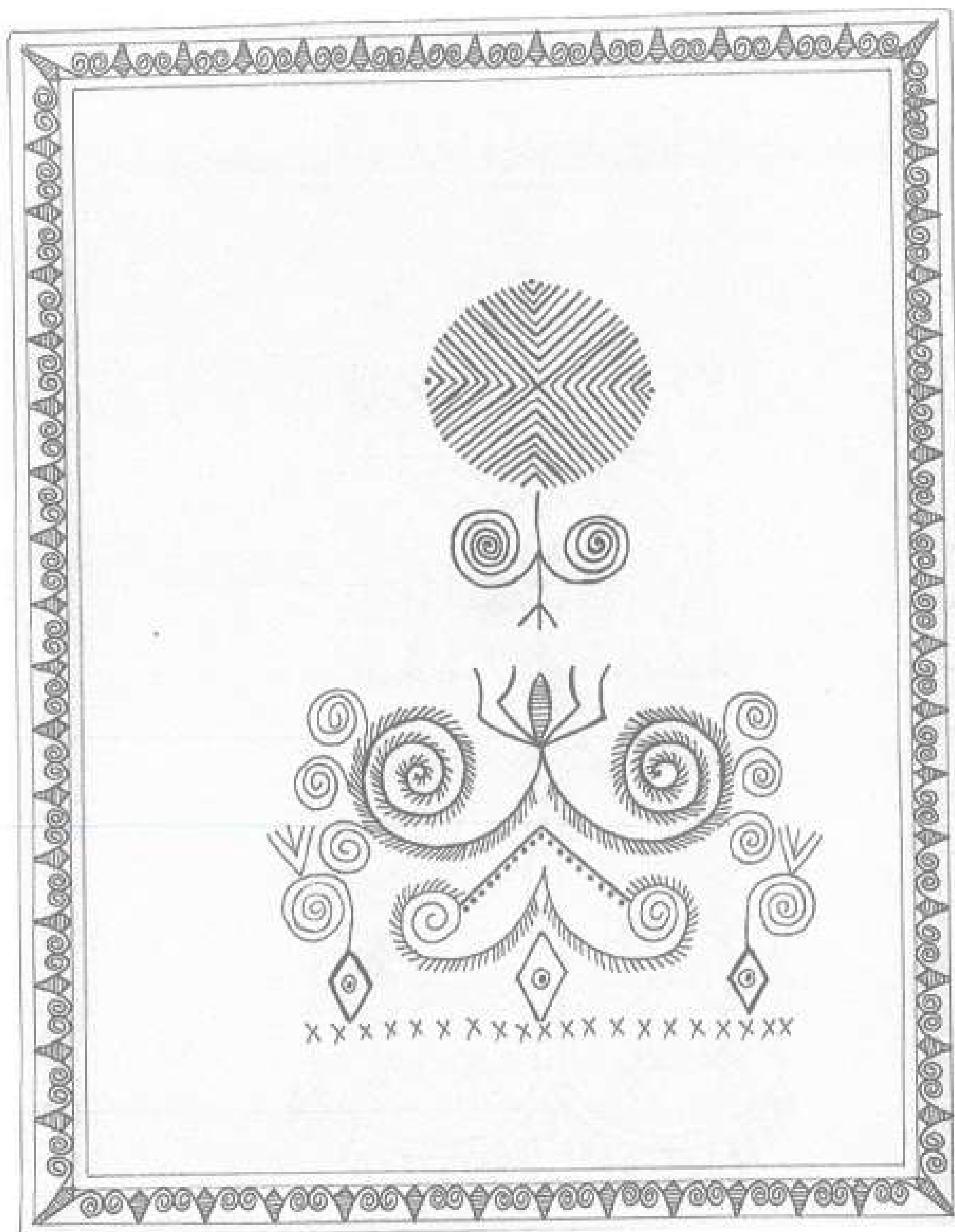


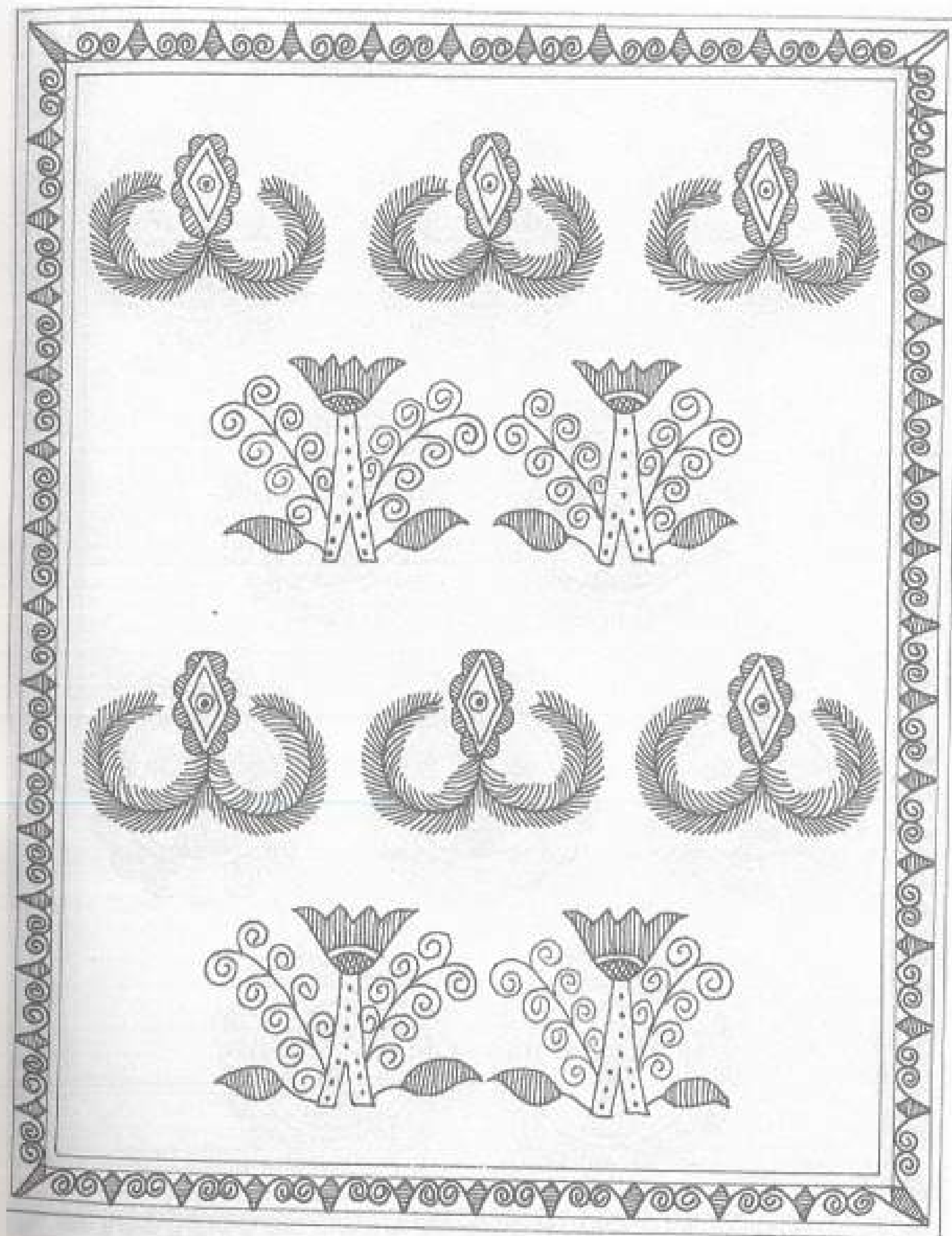


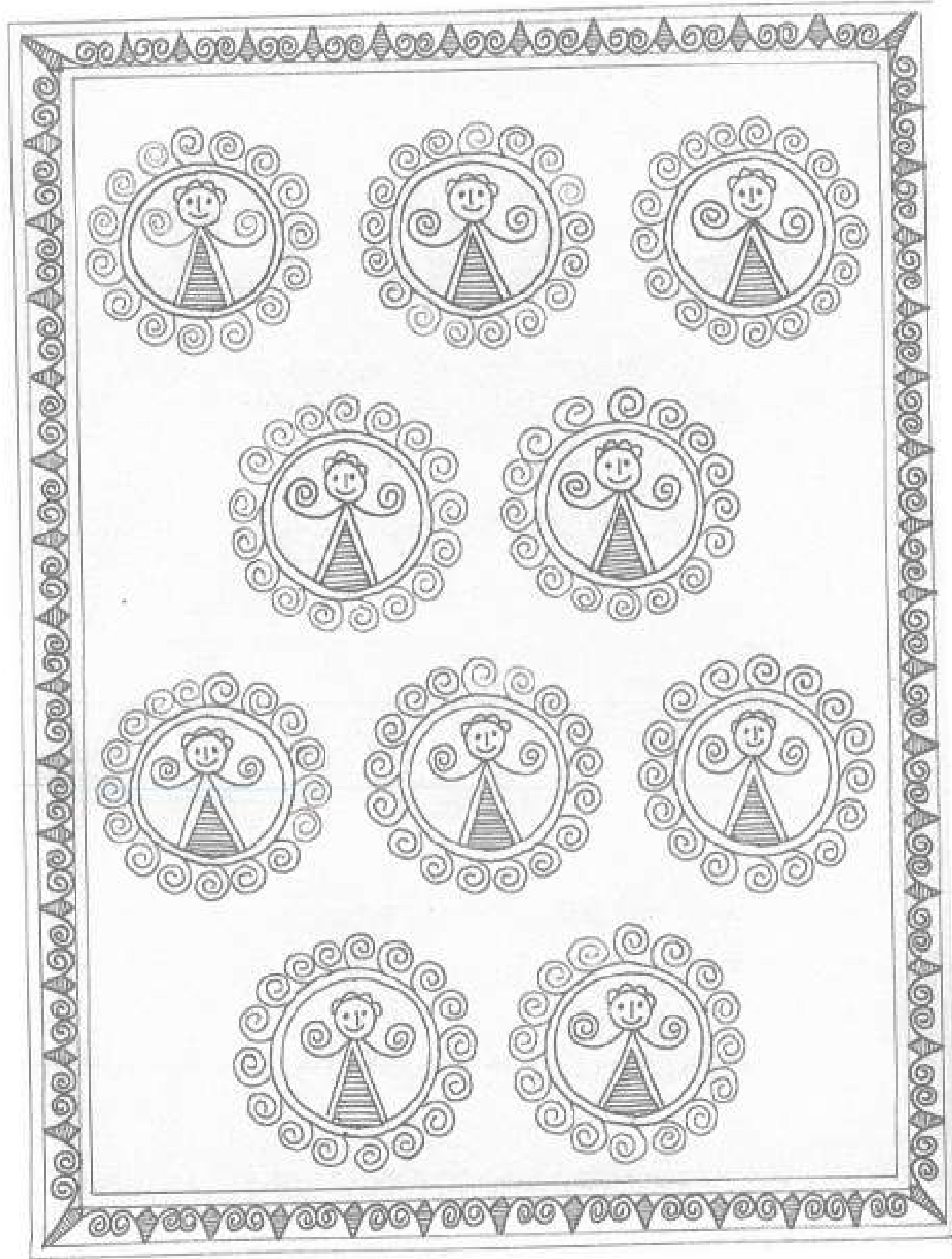


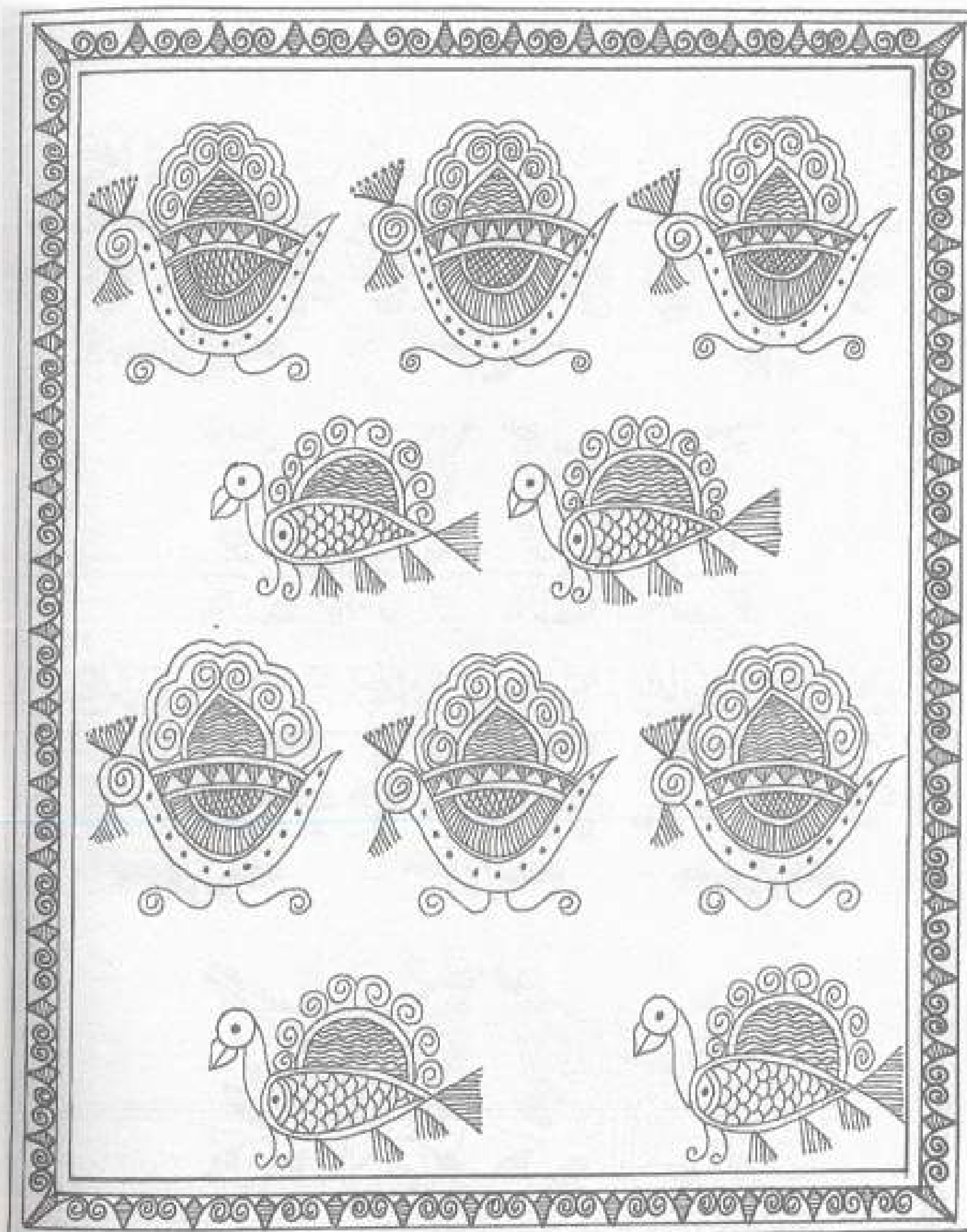
गोदना मोहर



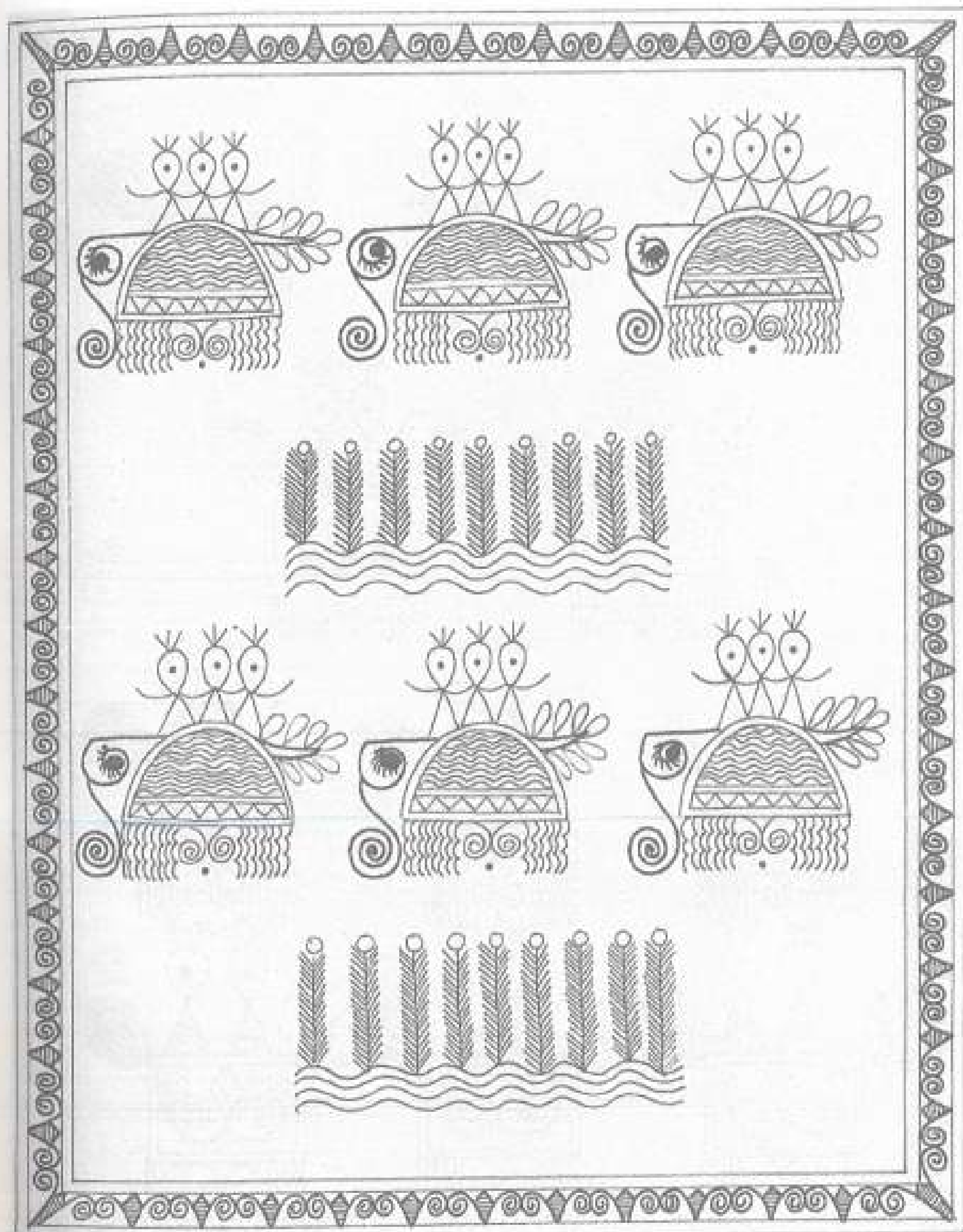


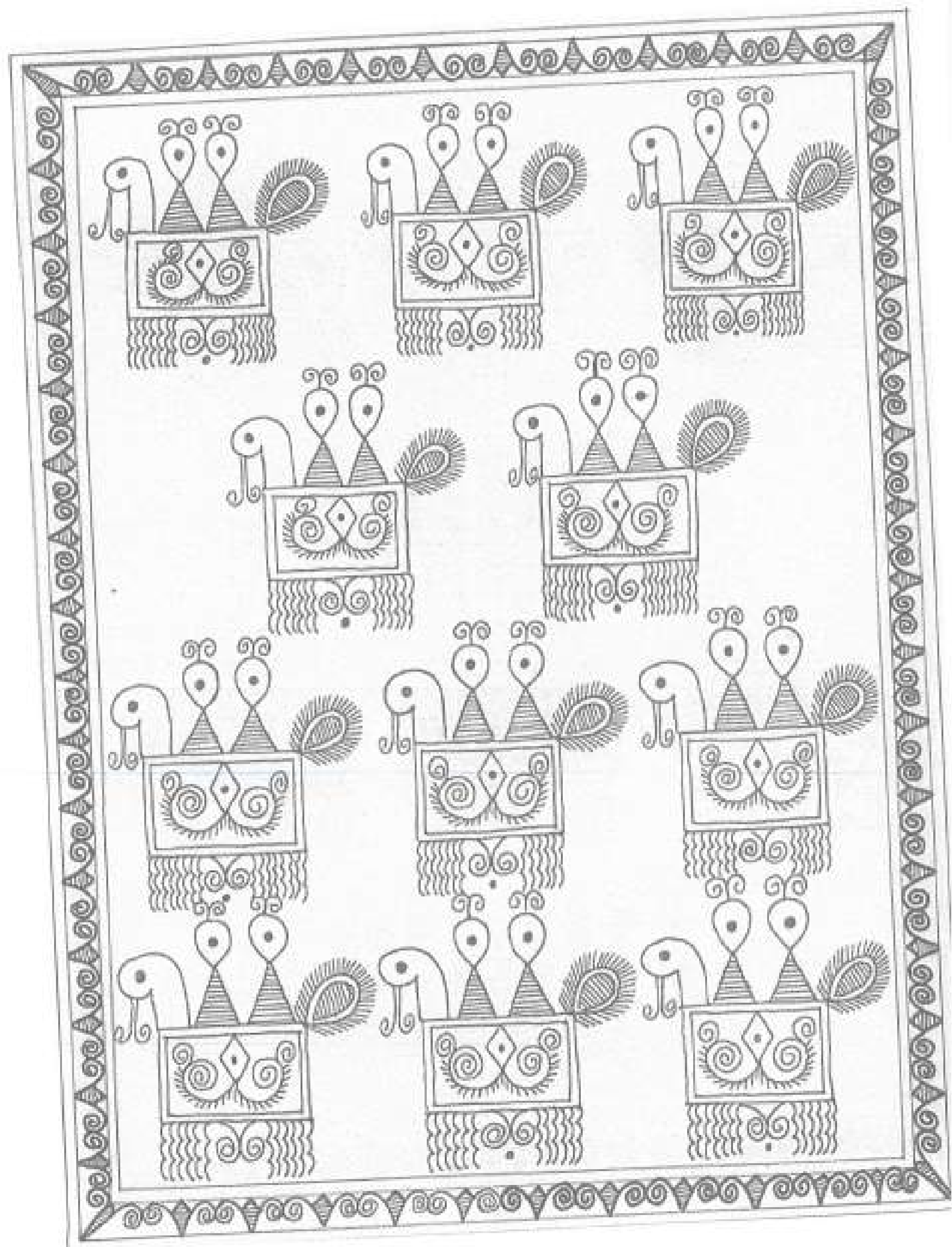


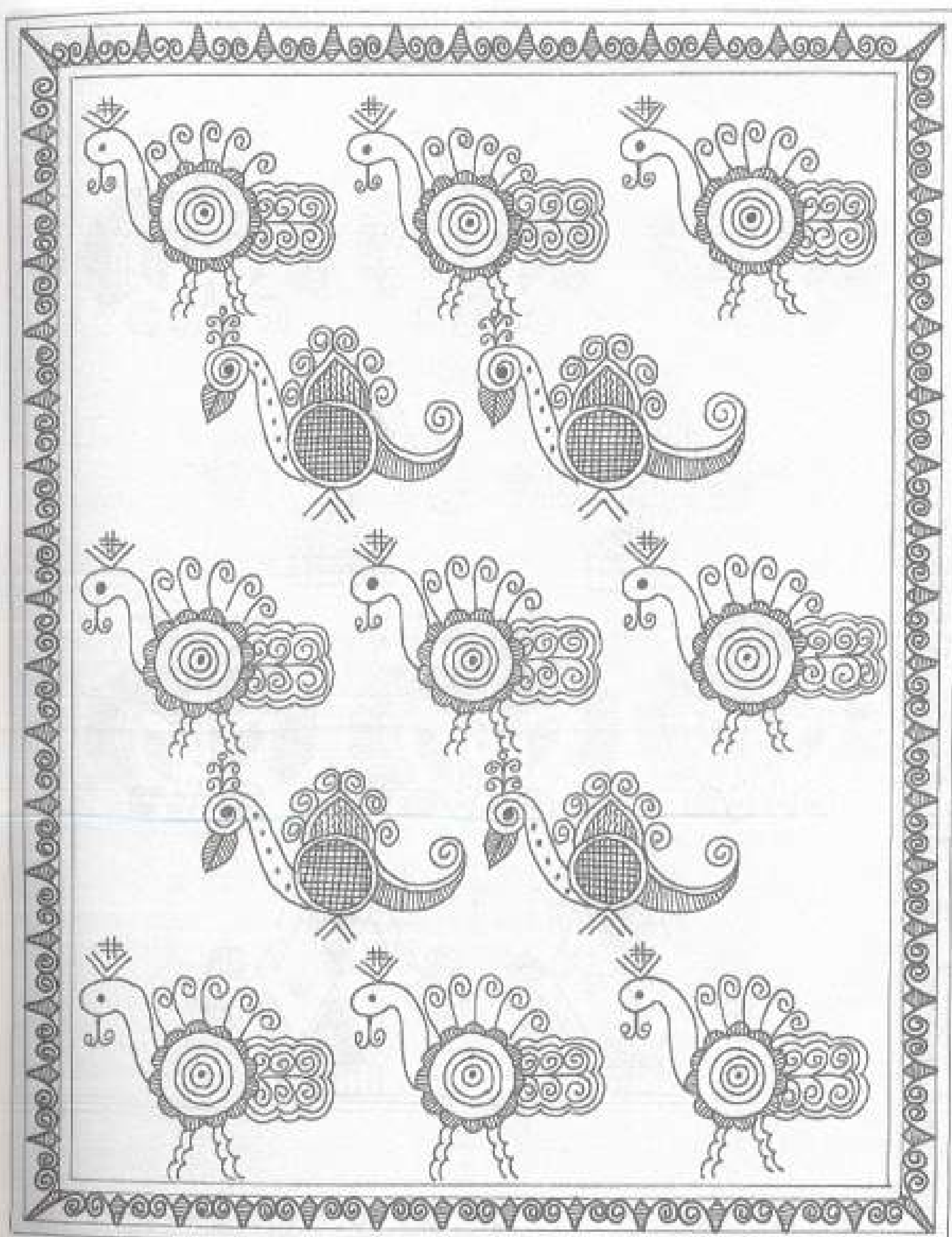


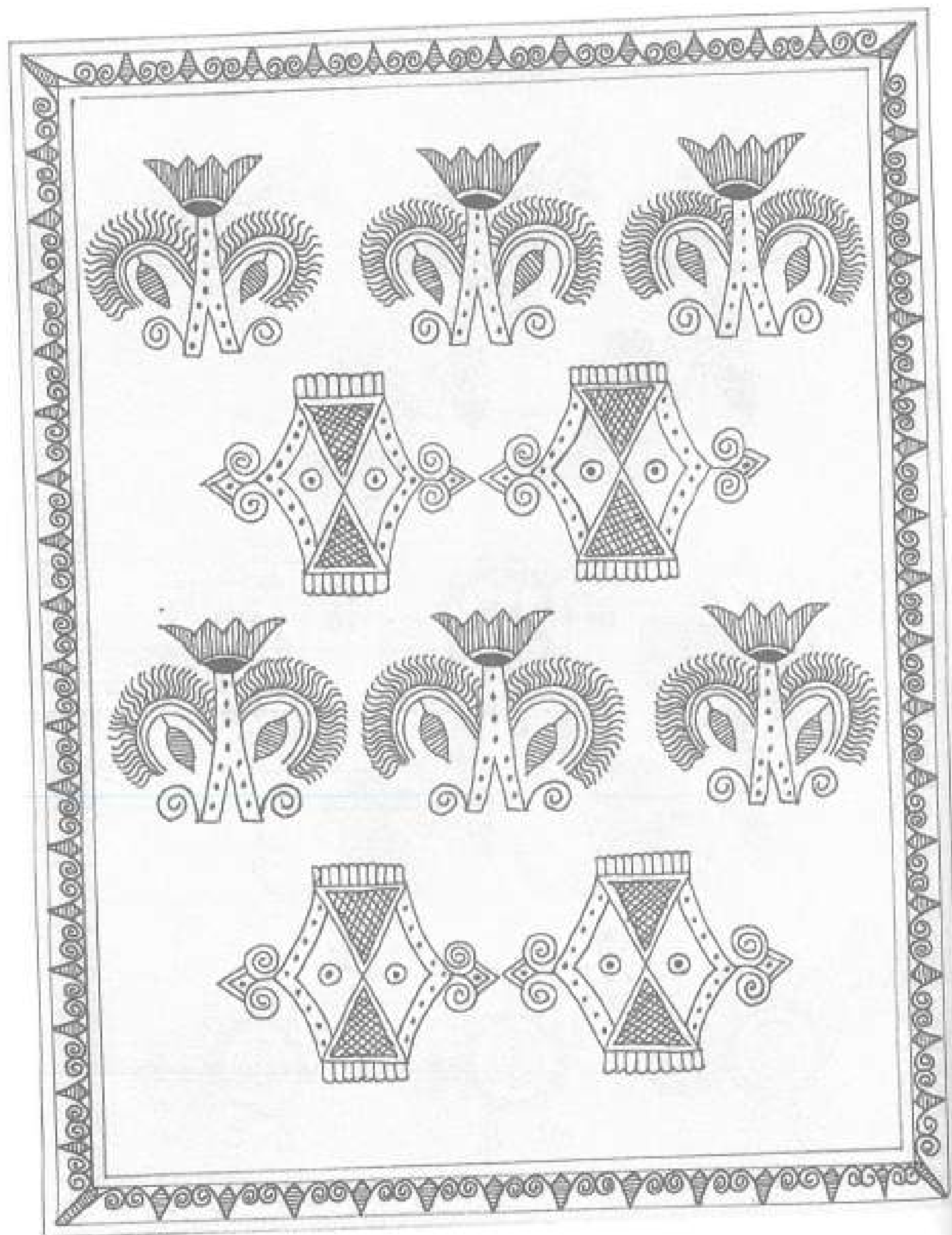


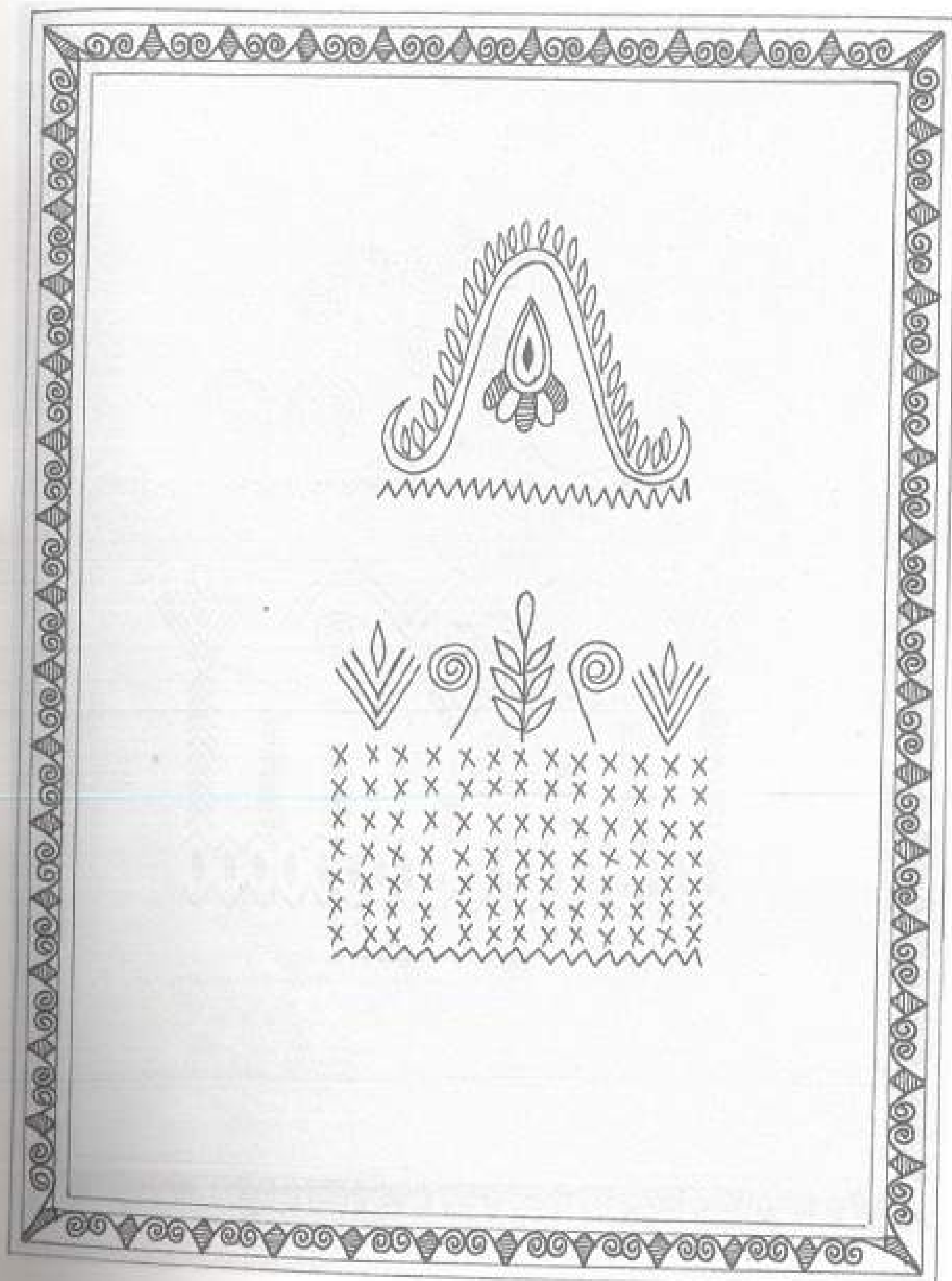


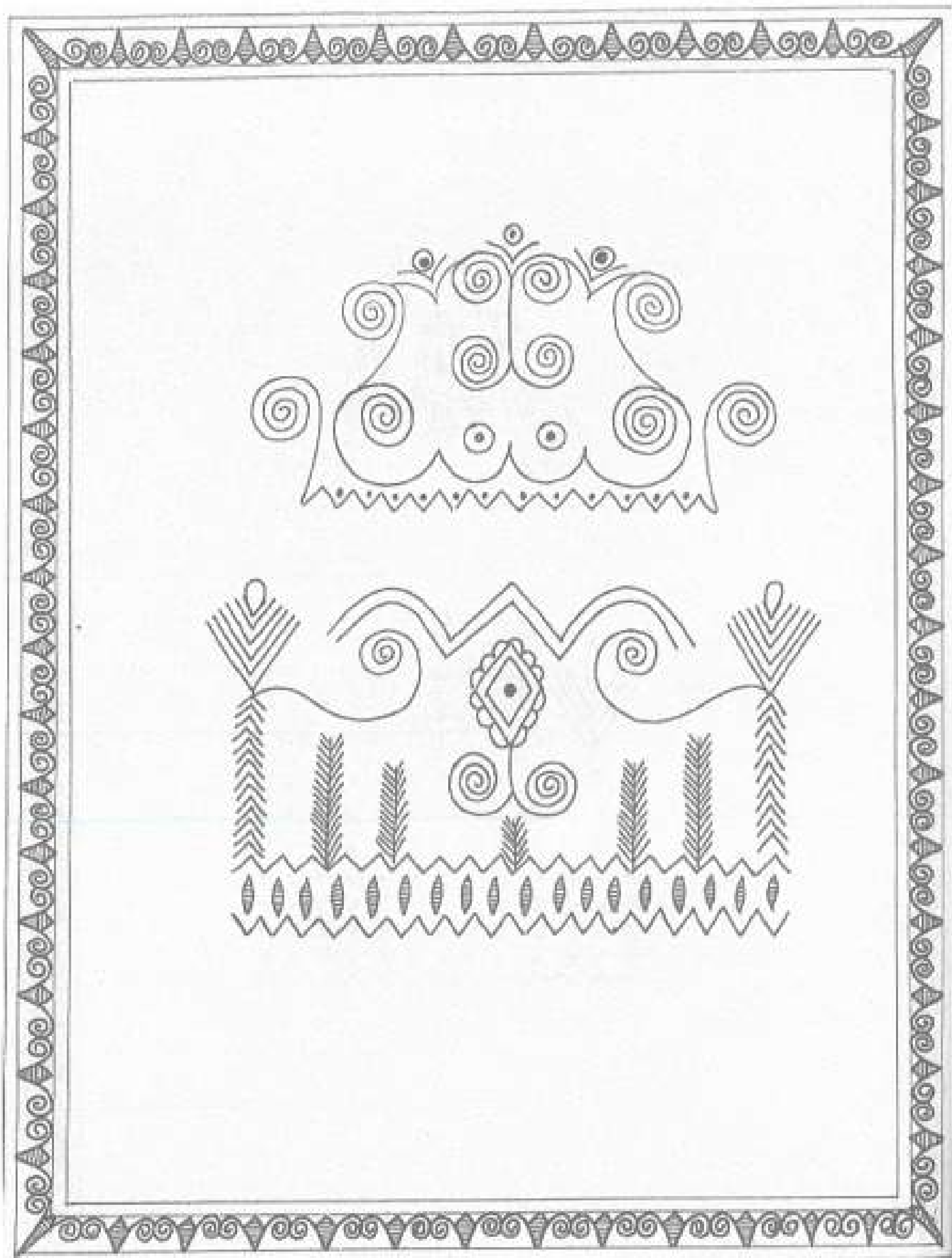


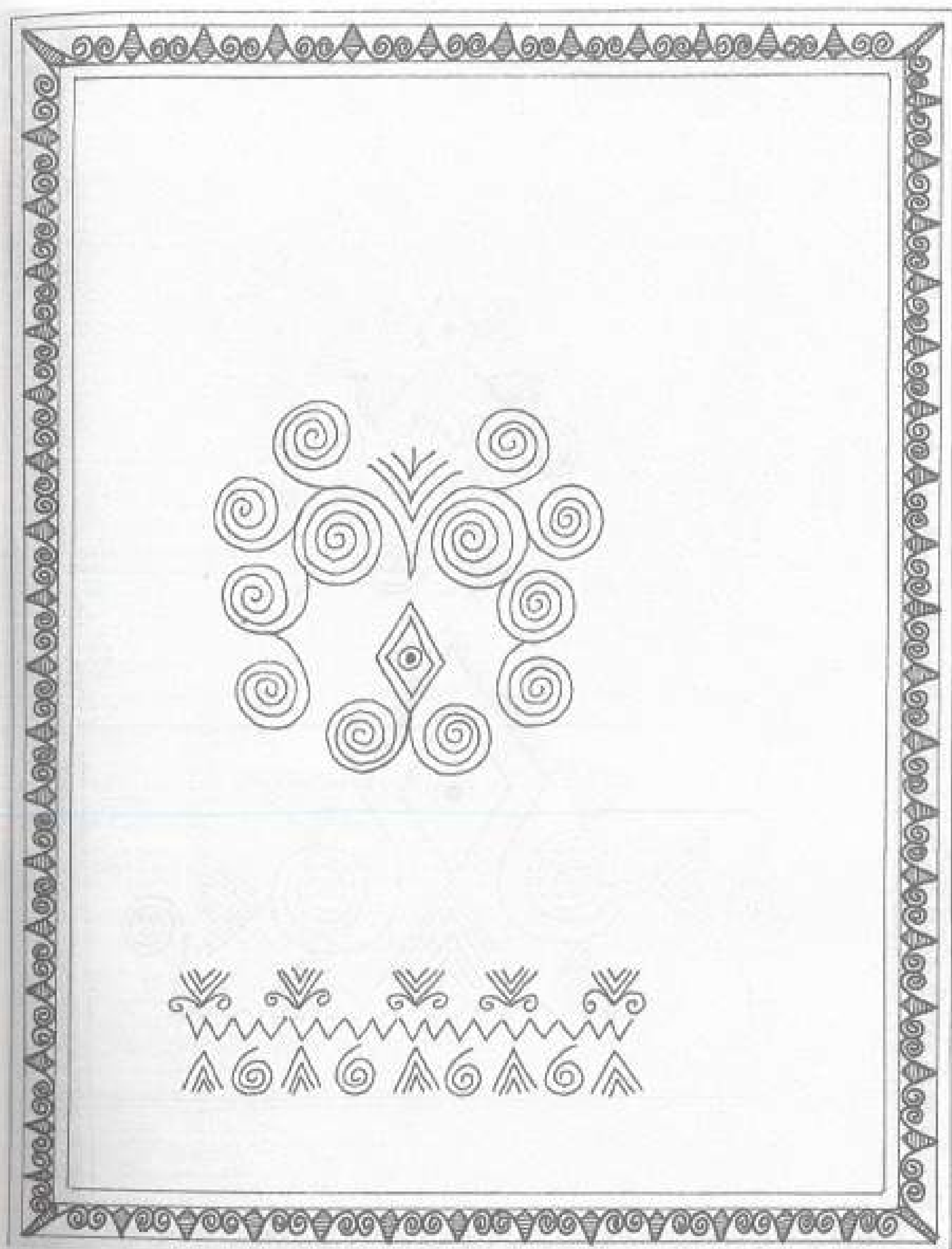


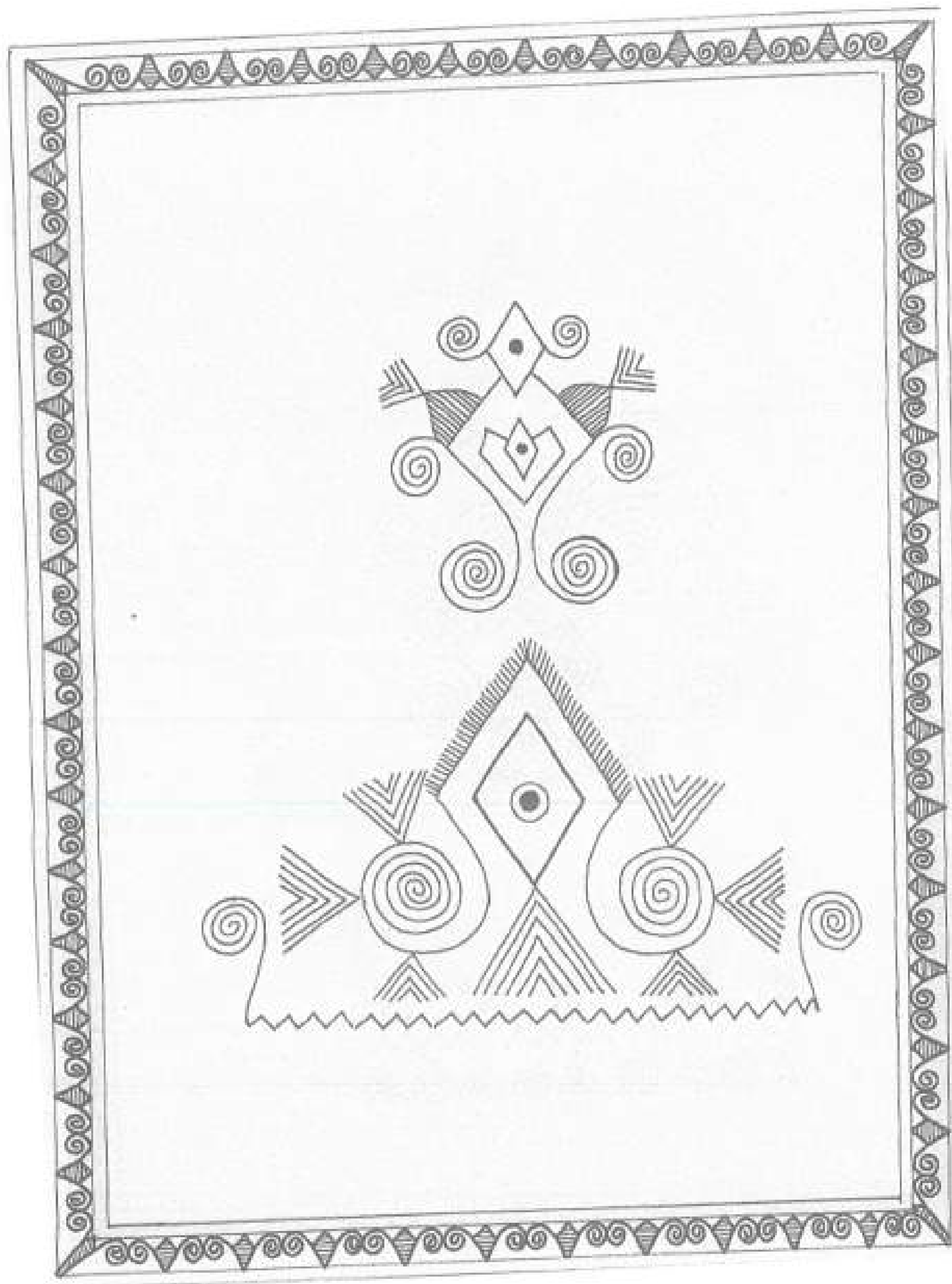


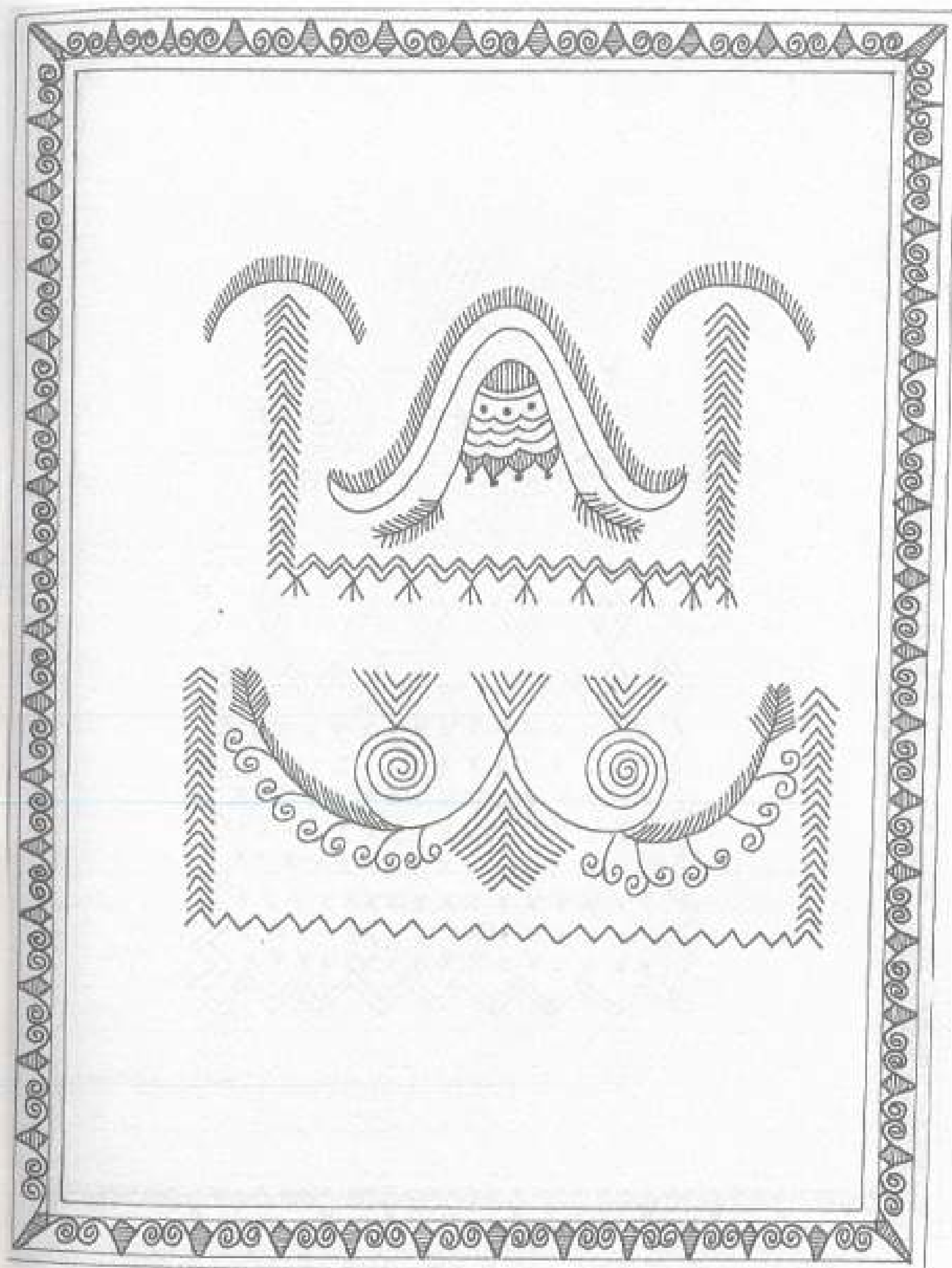


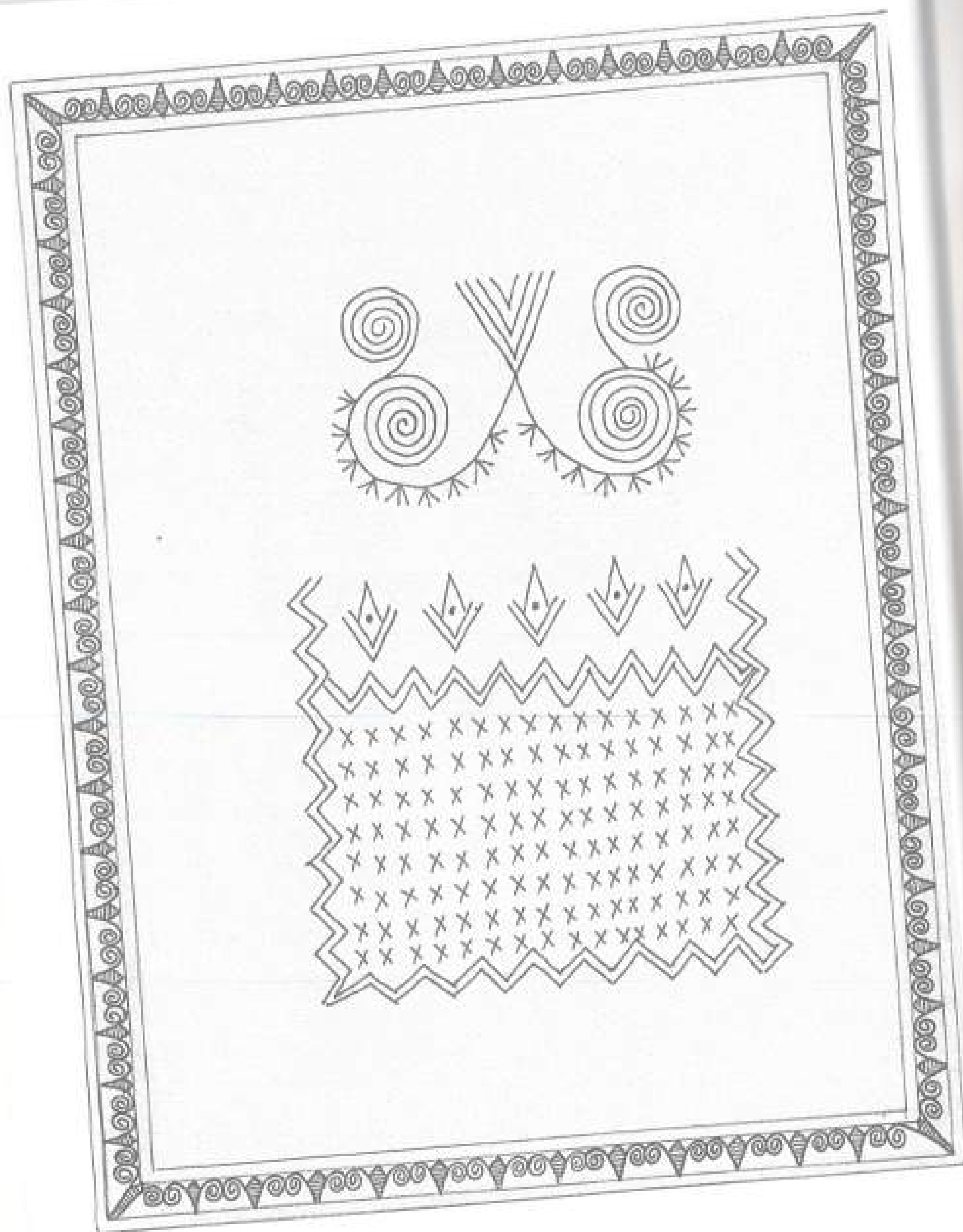


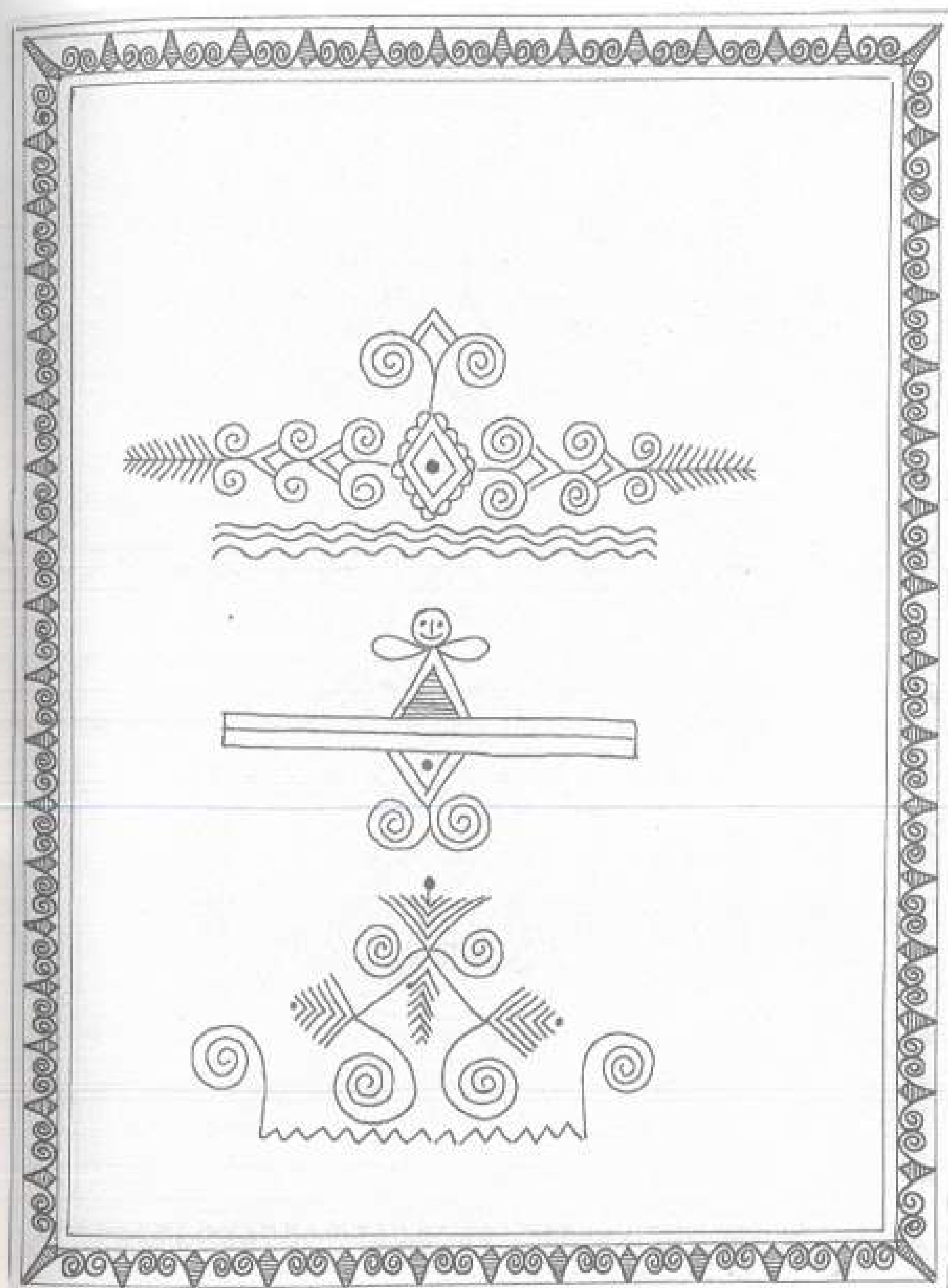


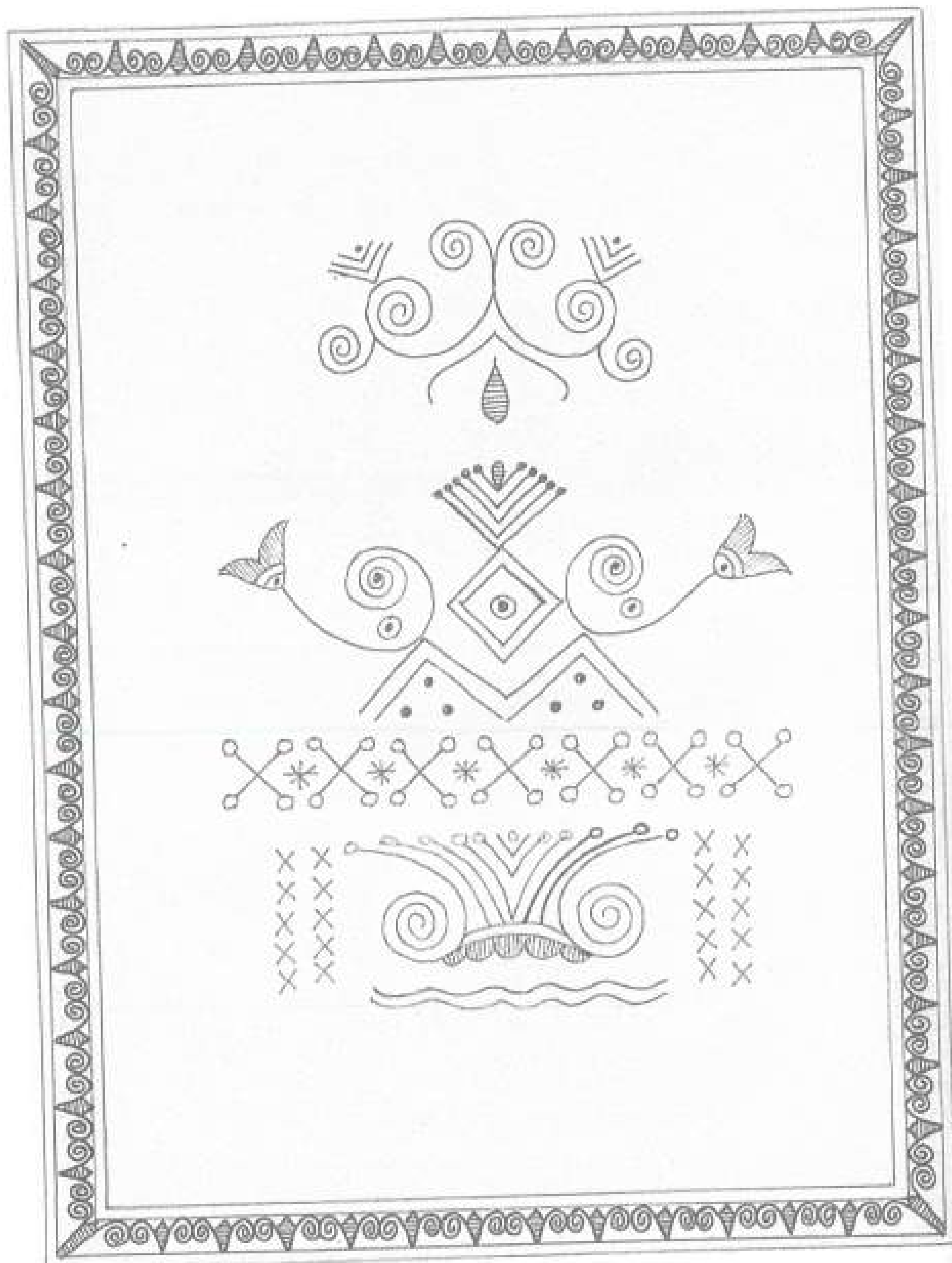


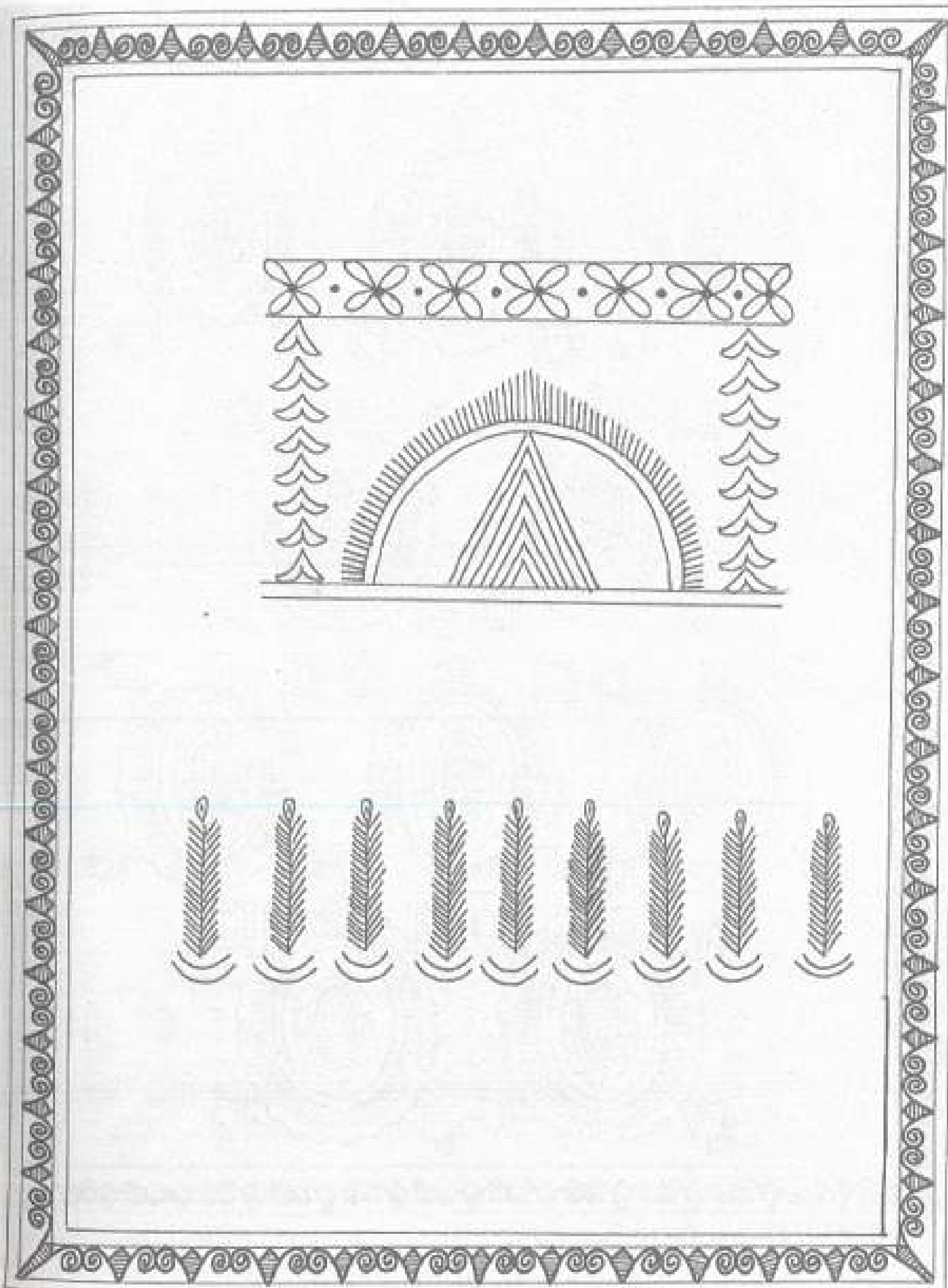


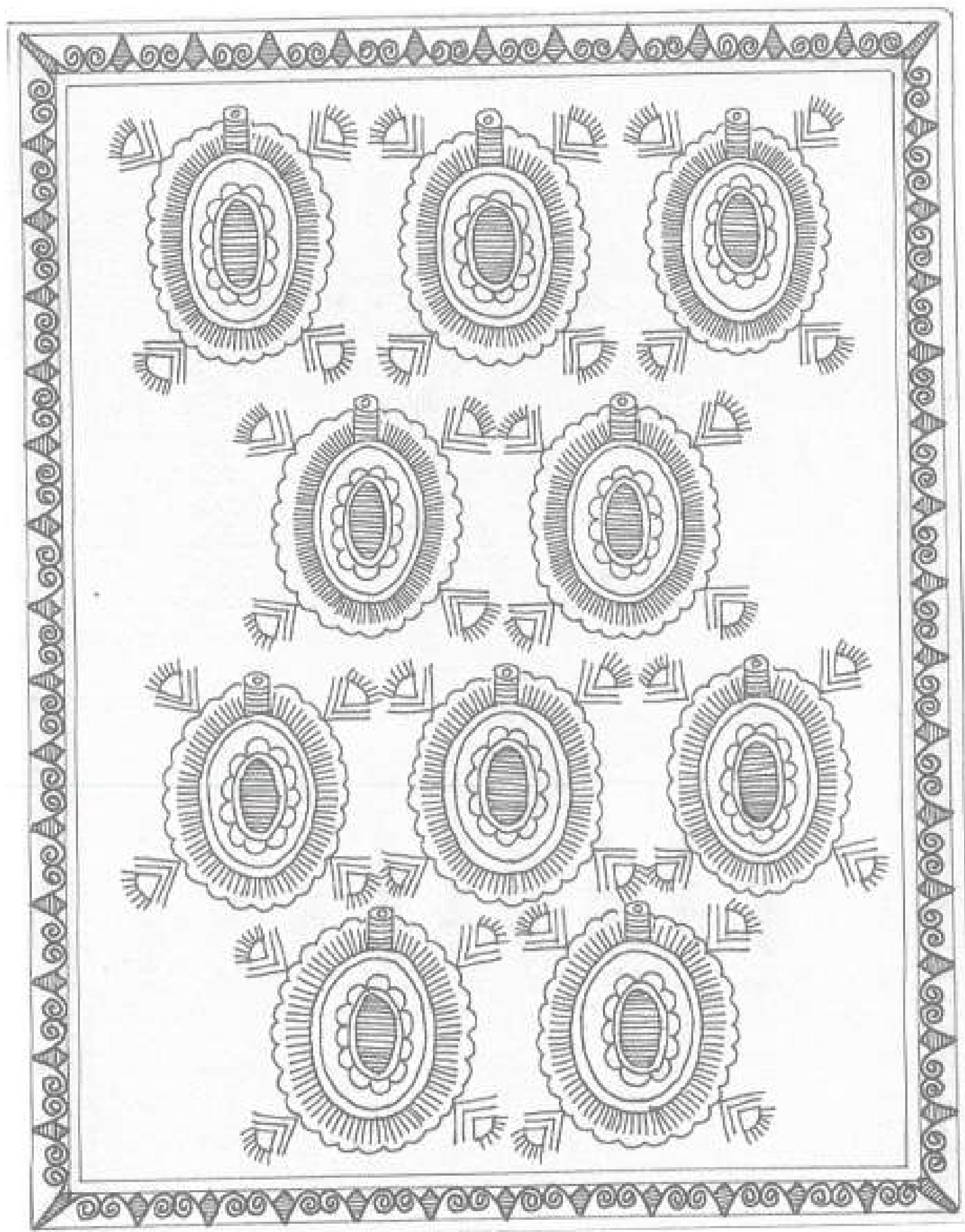


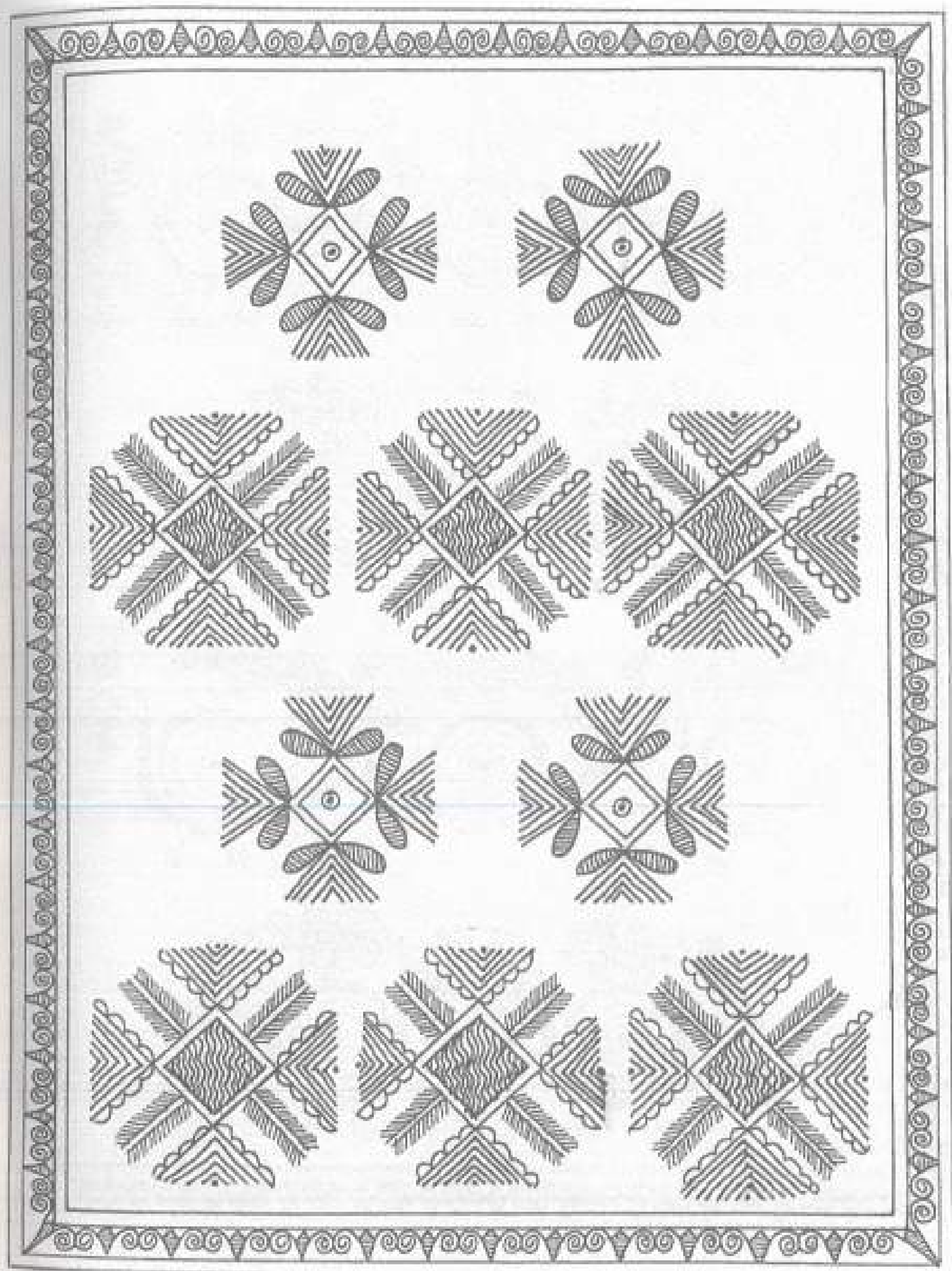


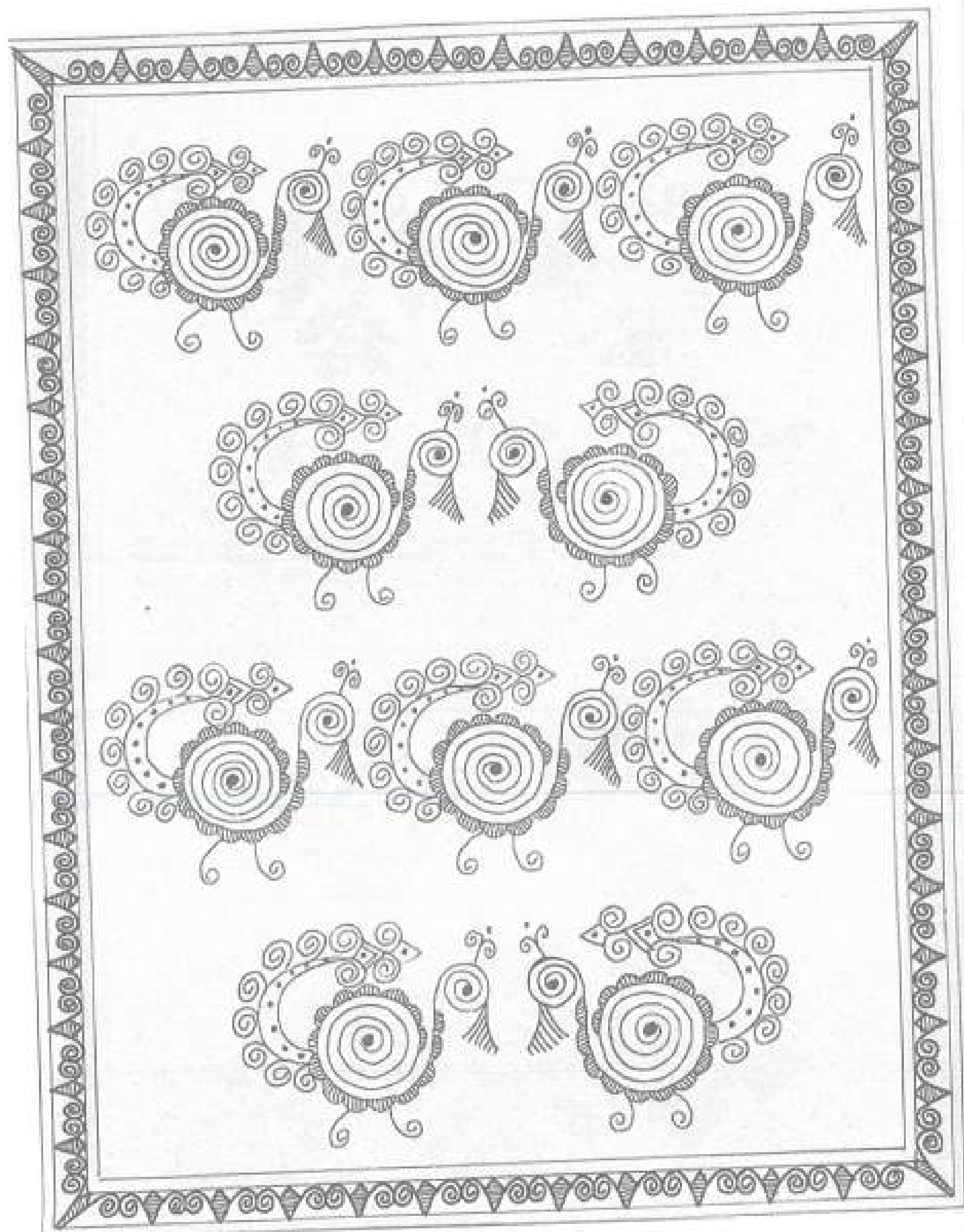




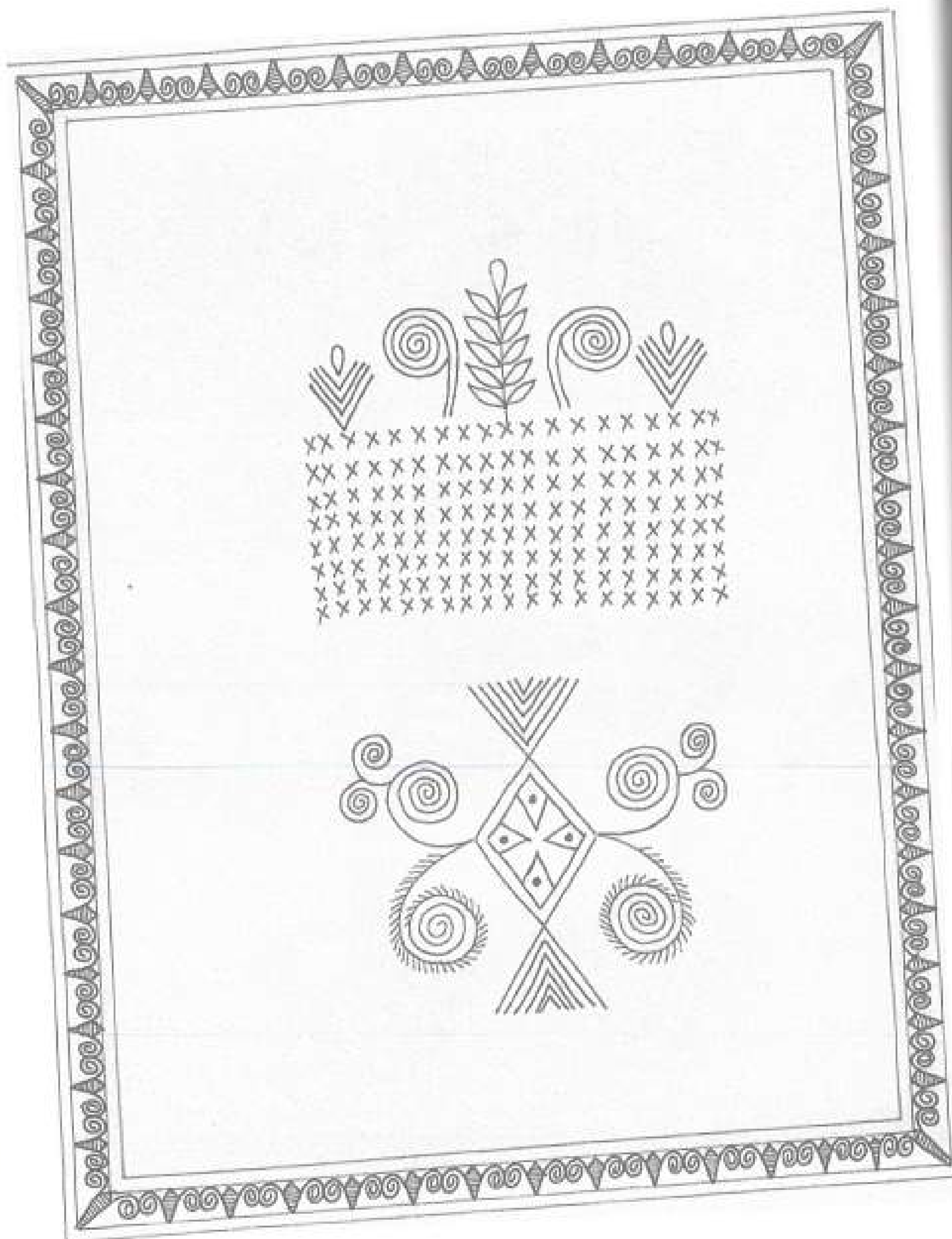


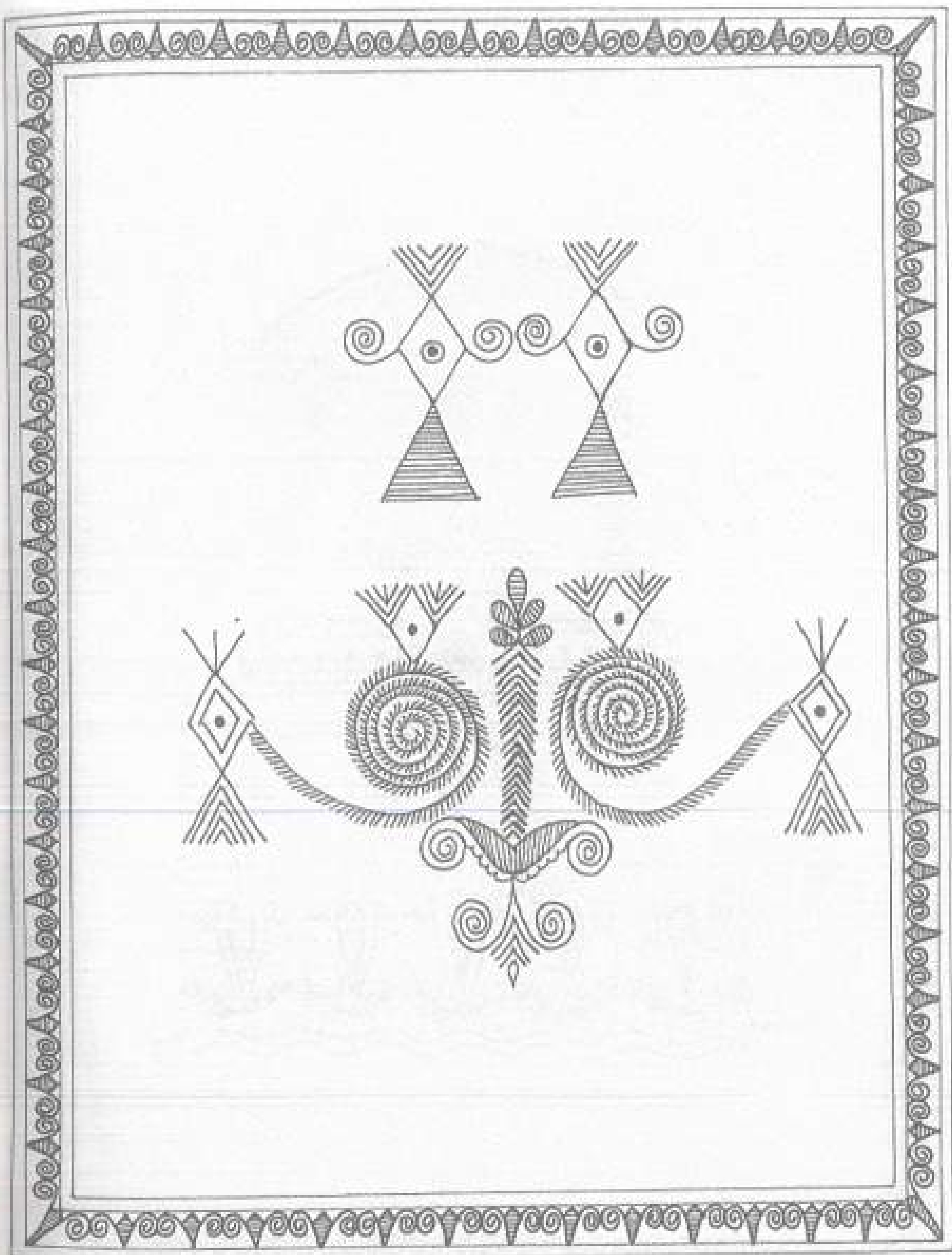


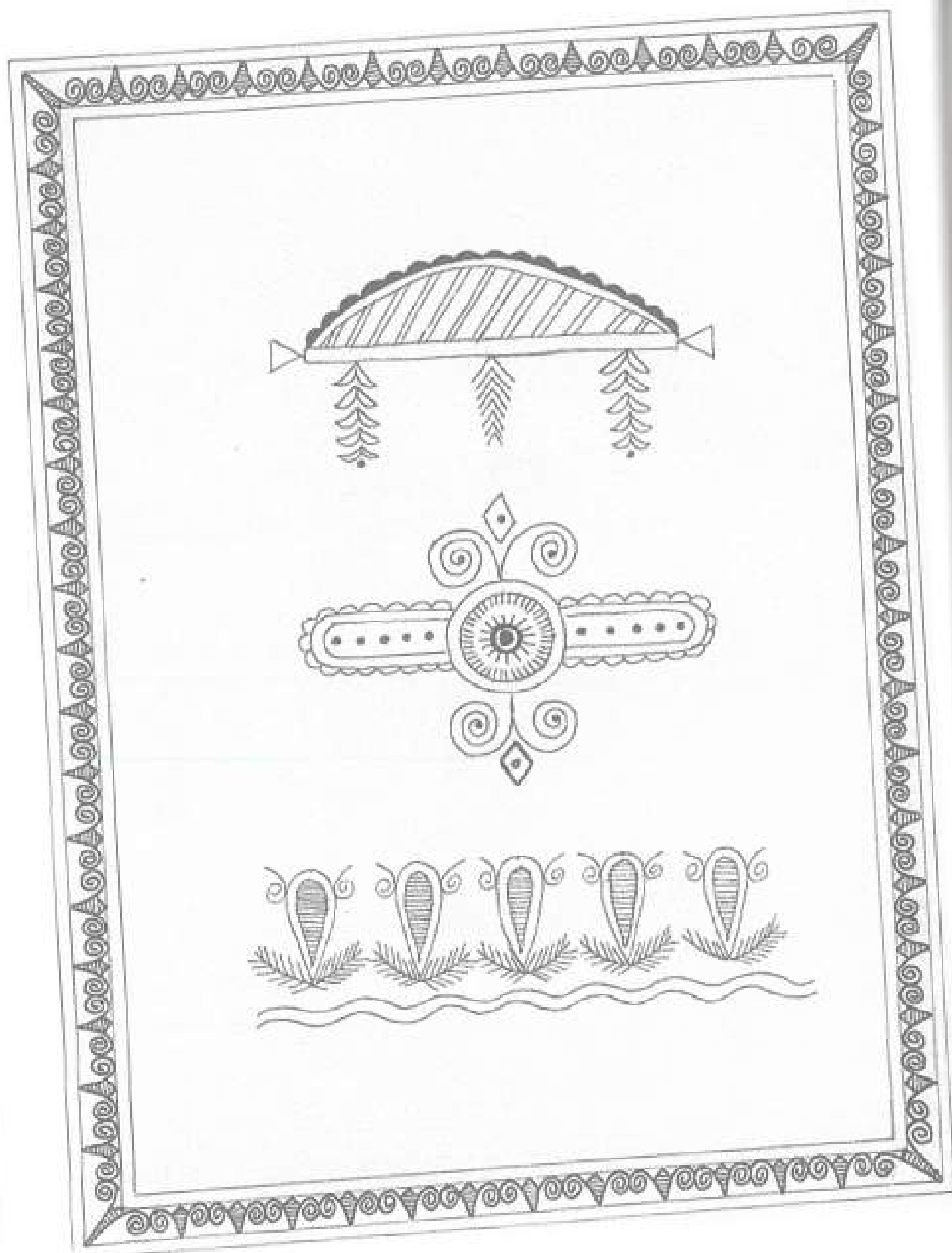


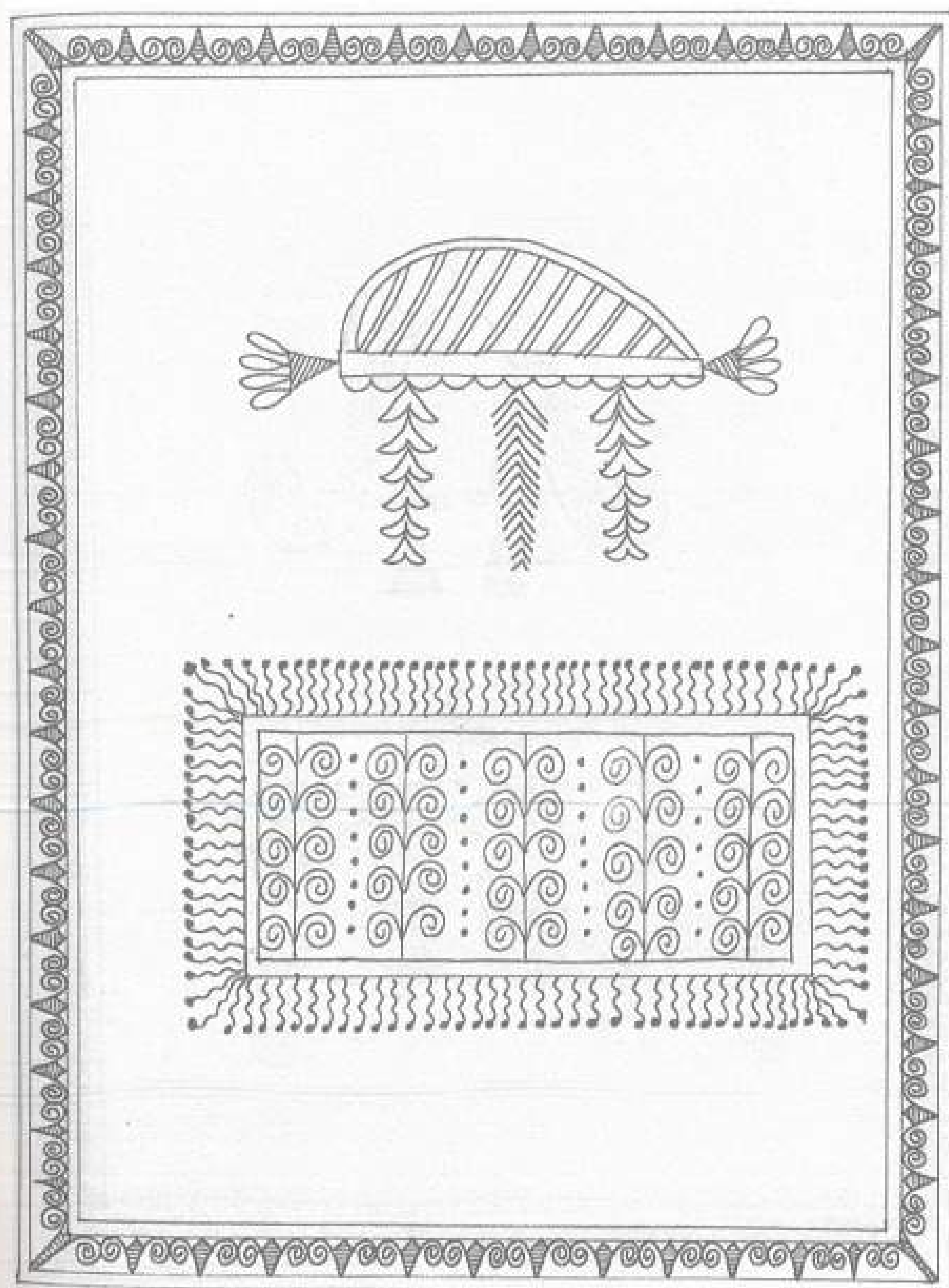


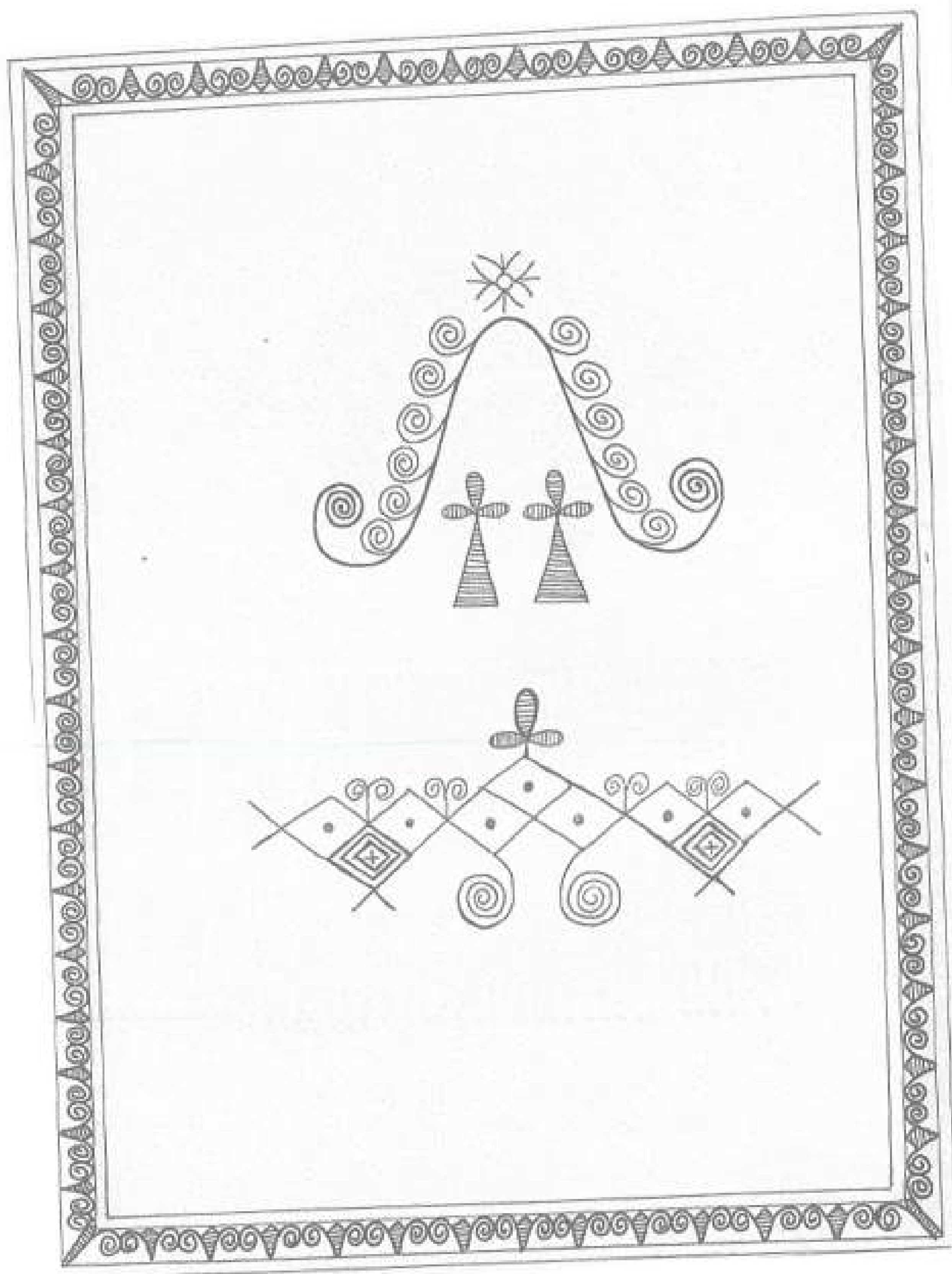


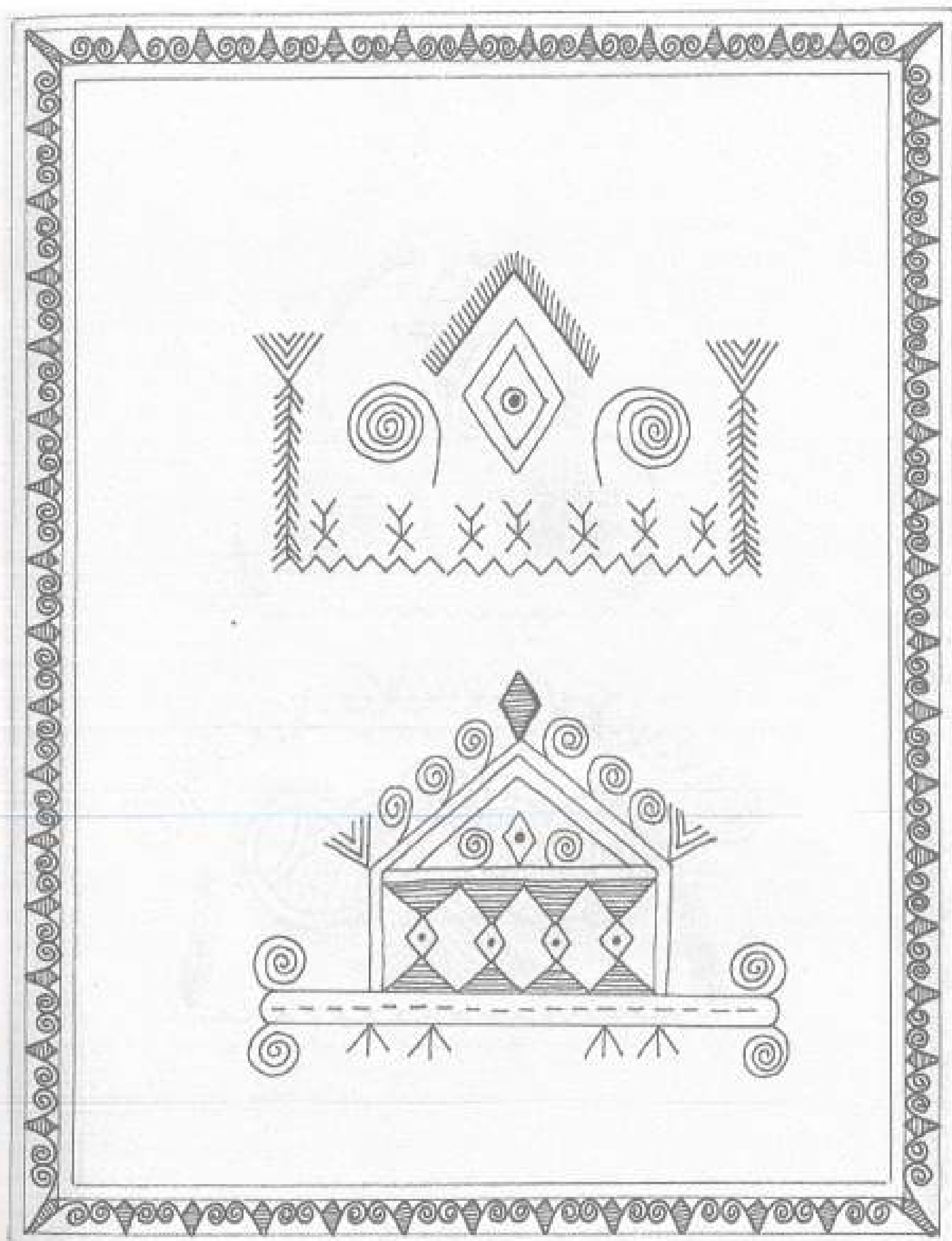


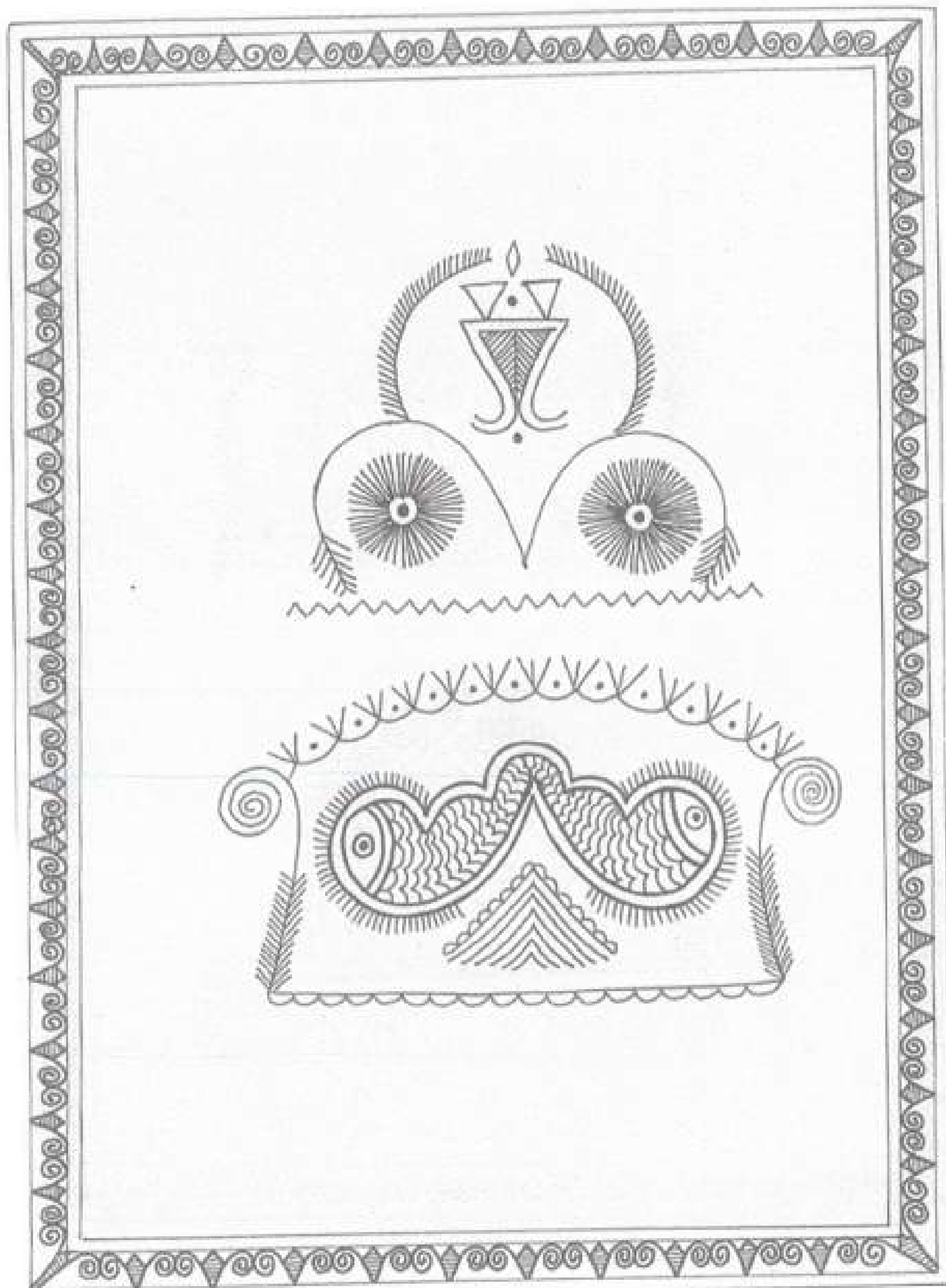




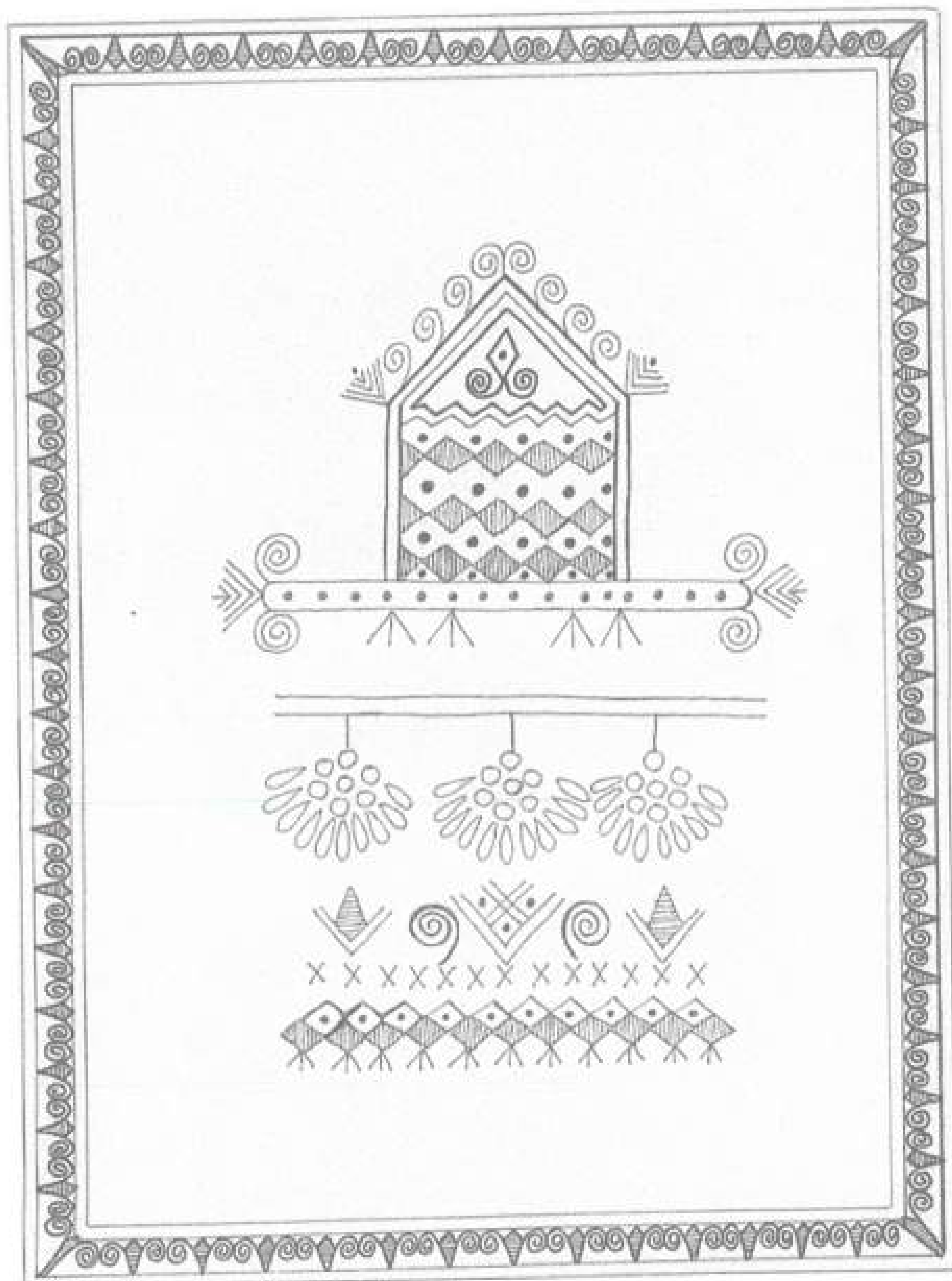


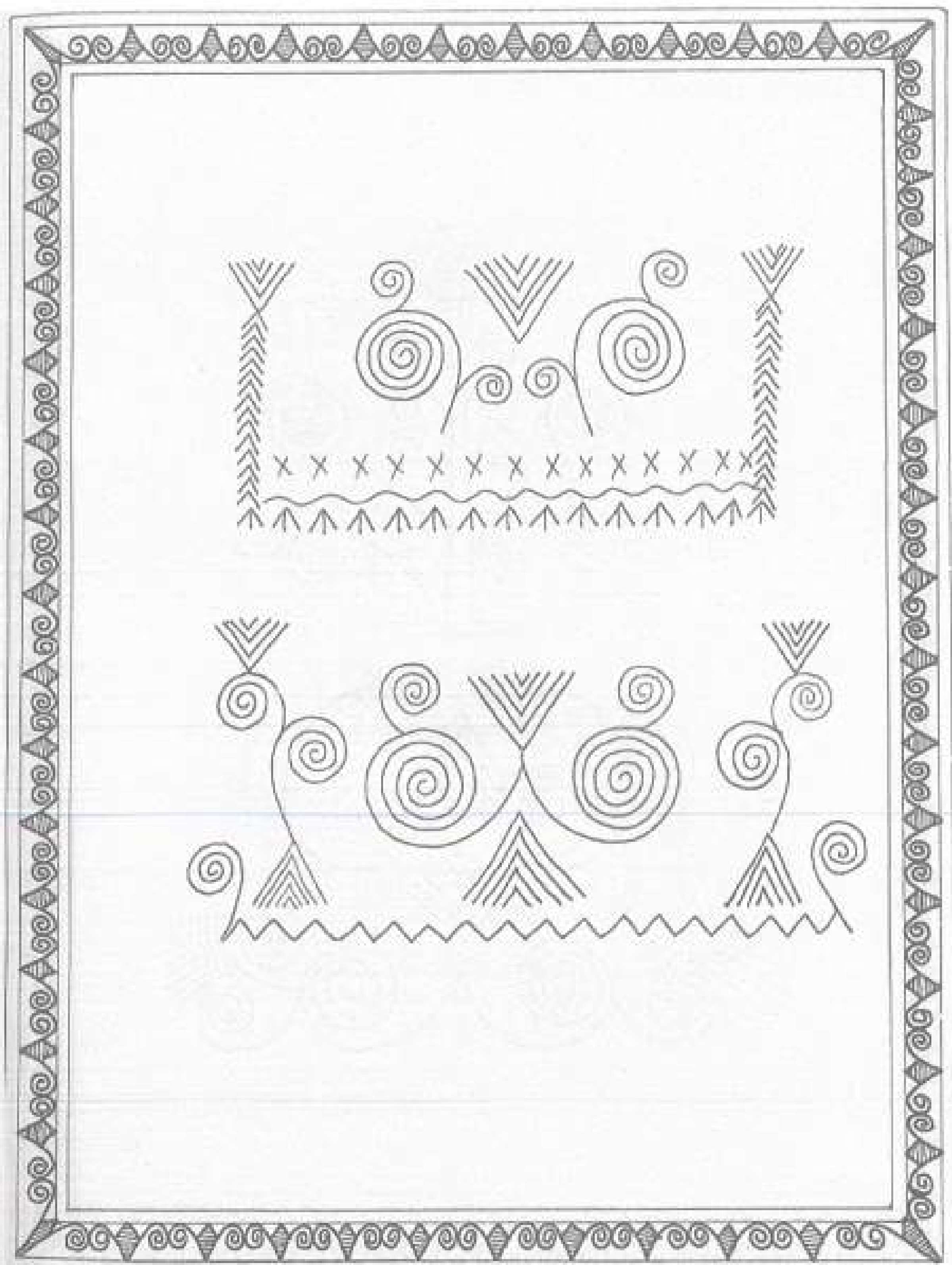


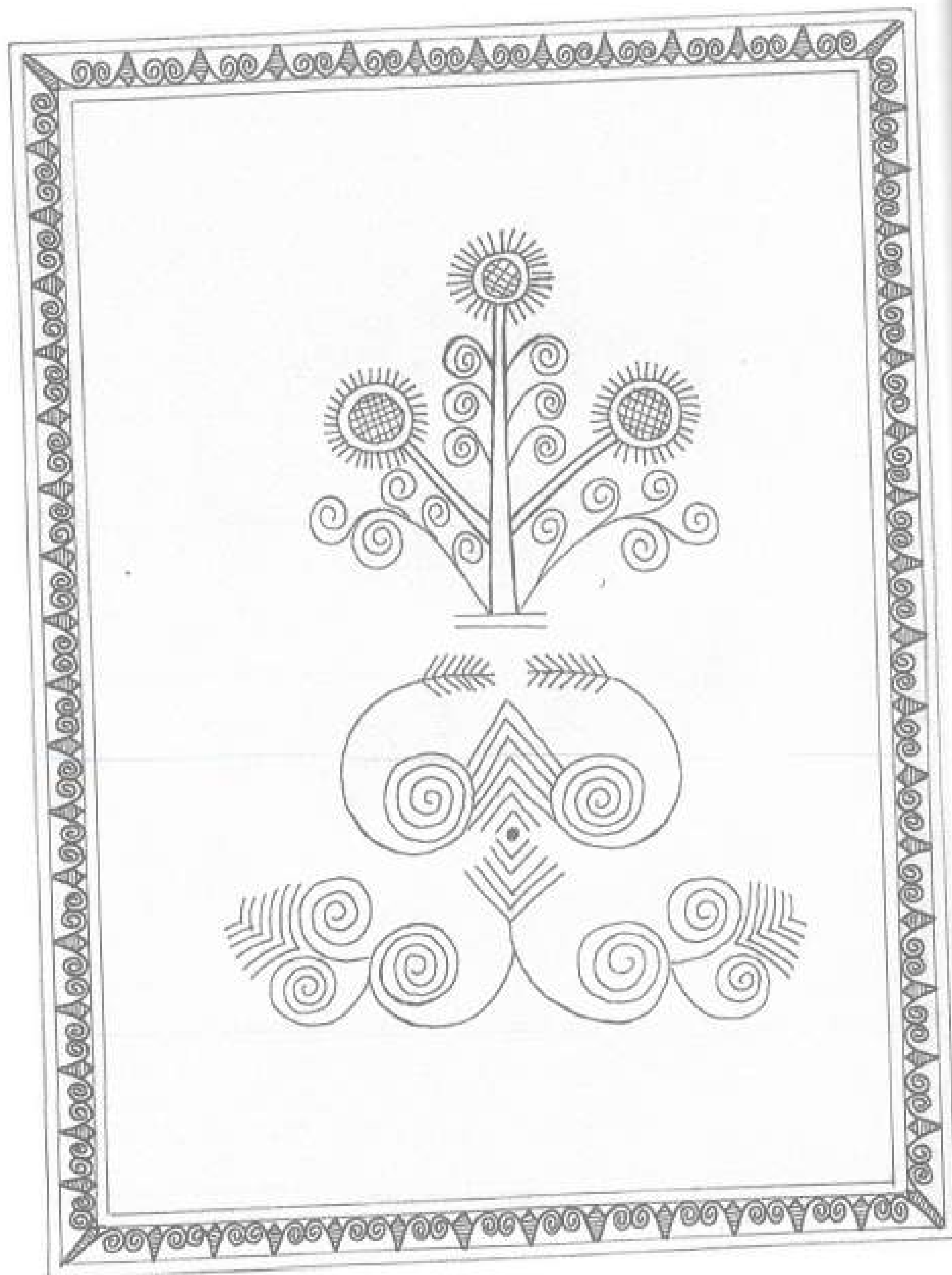


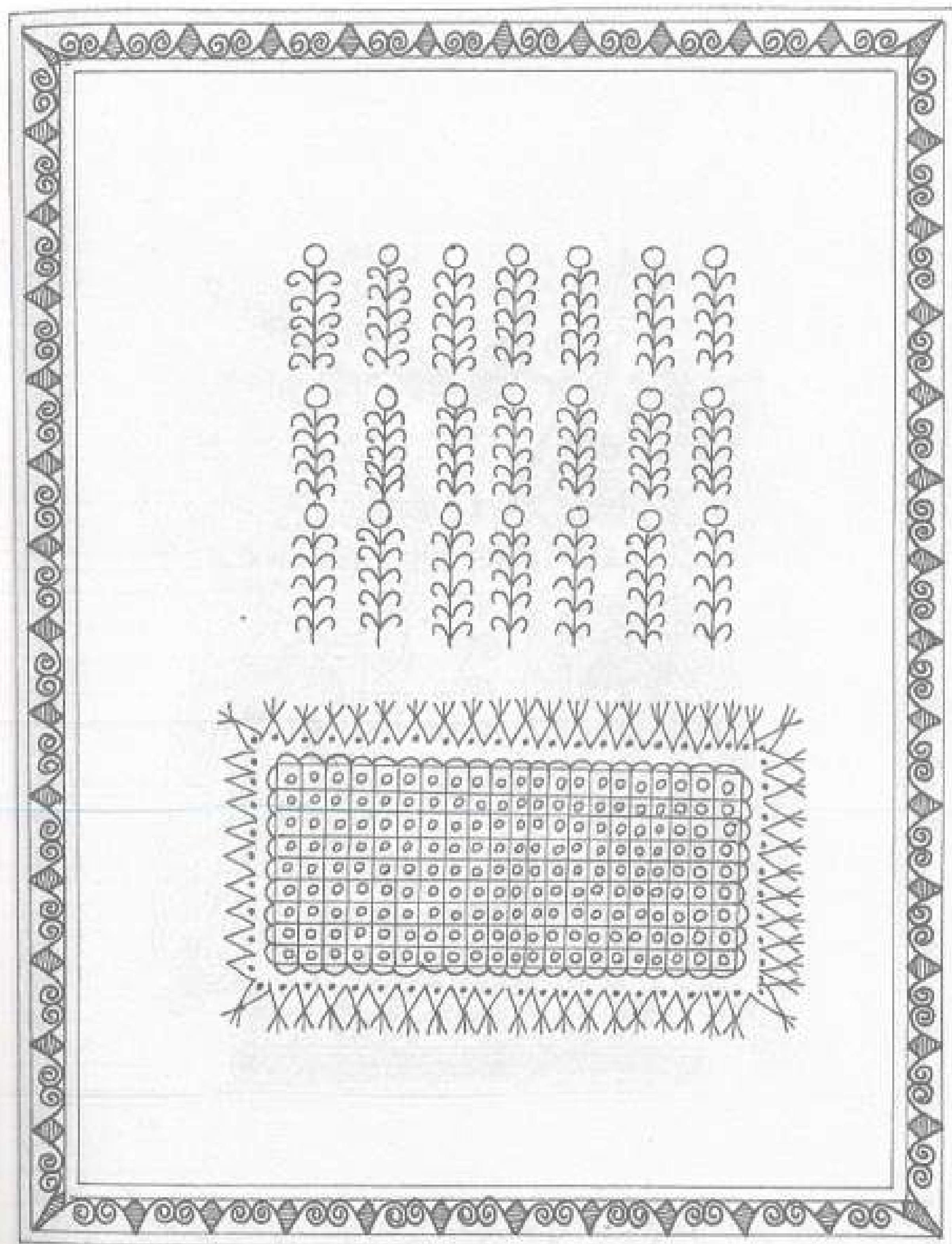




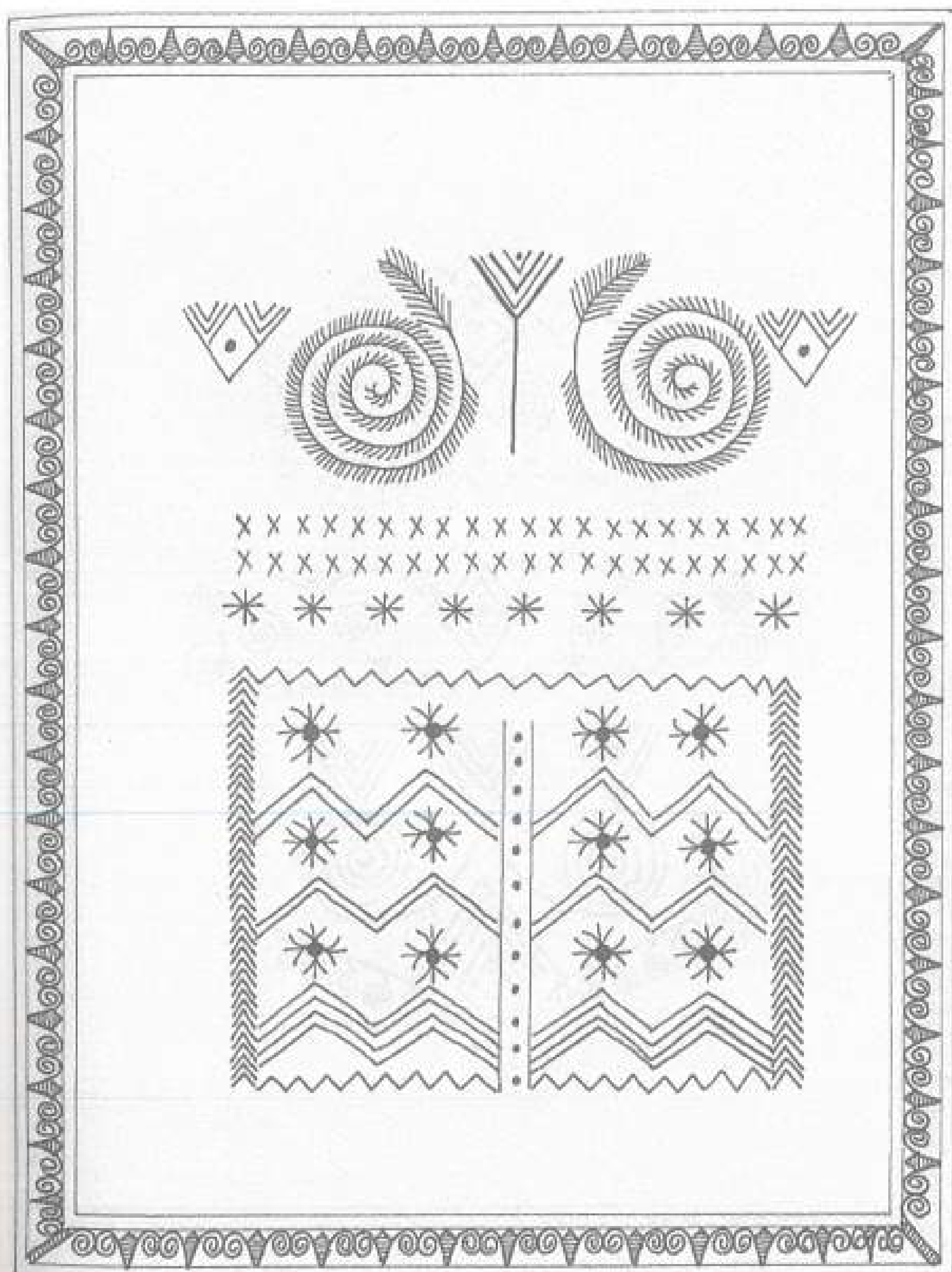




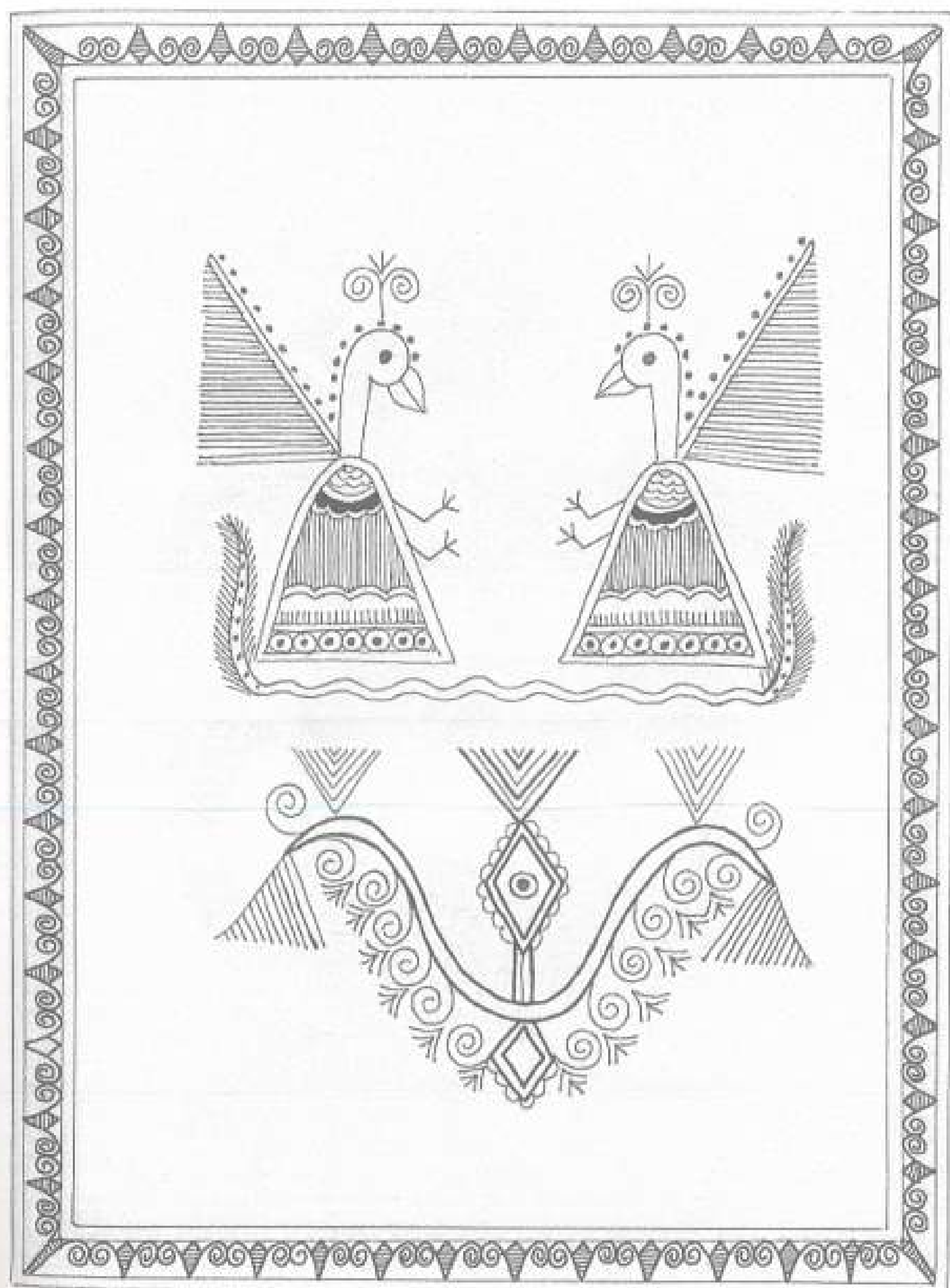


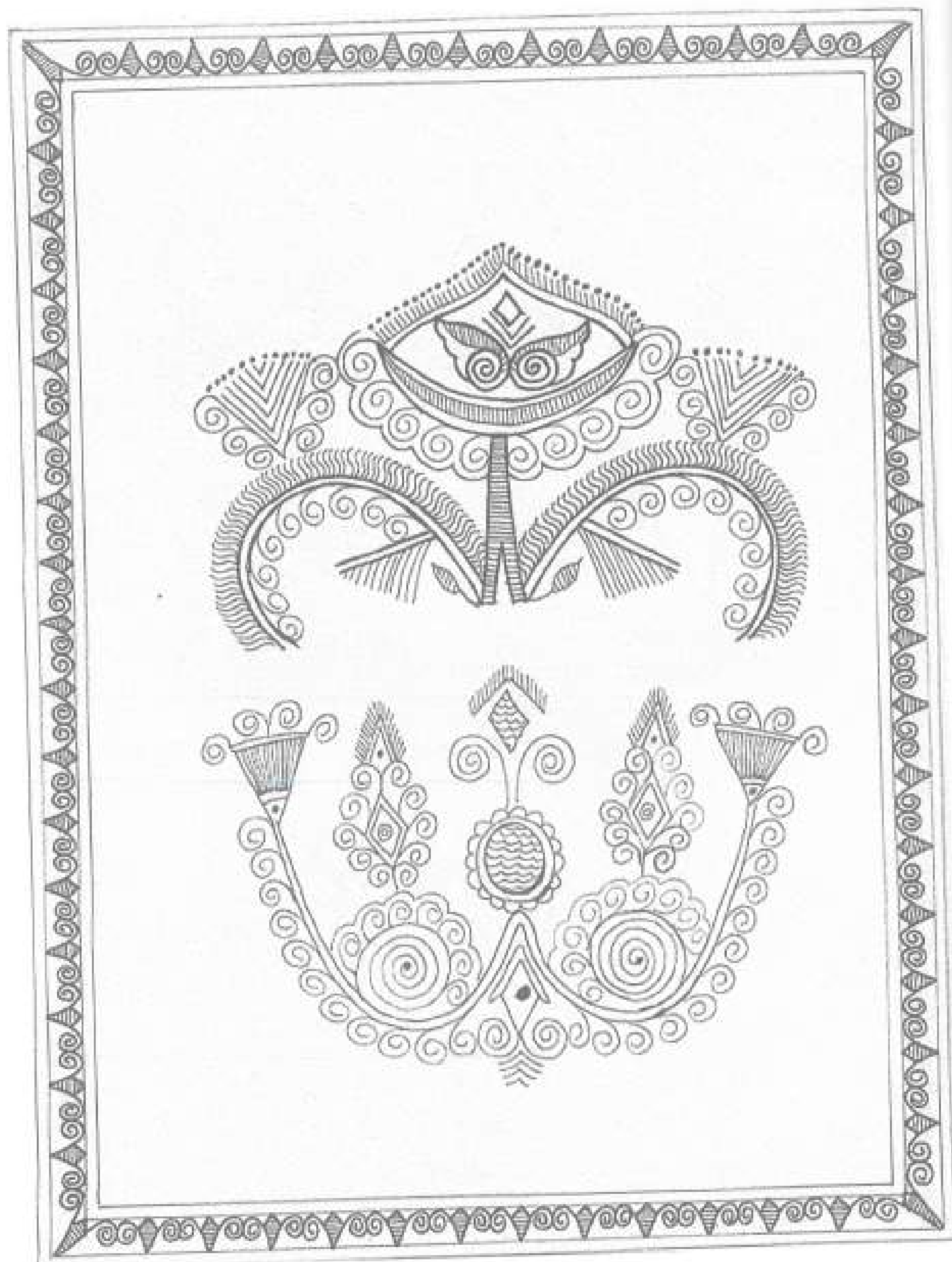


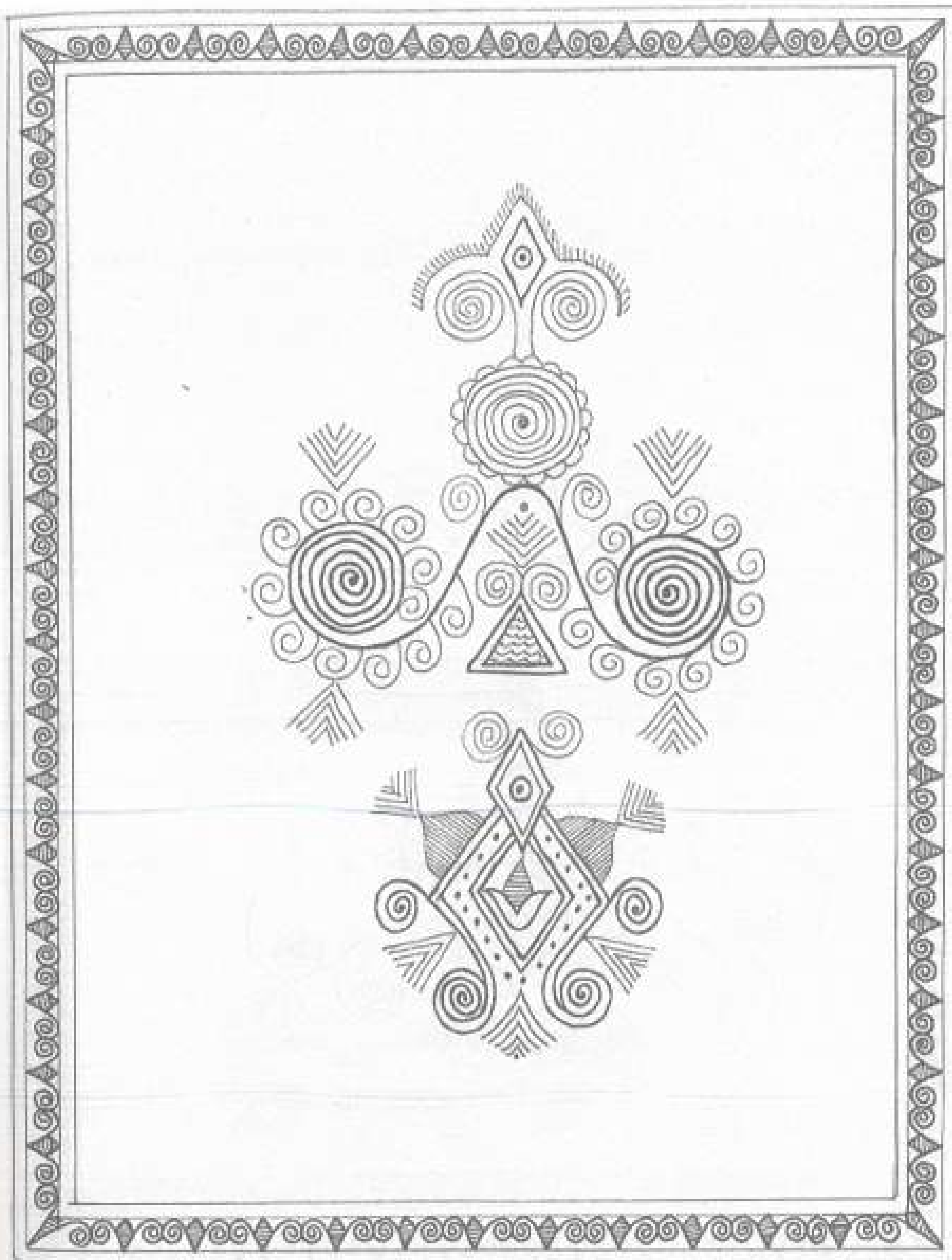




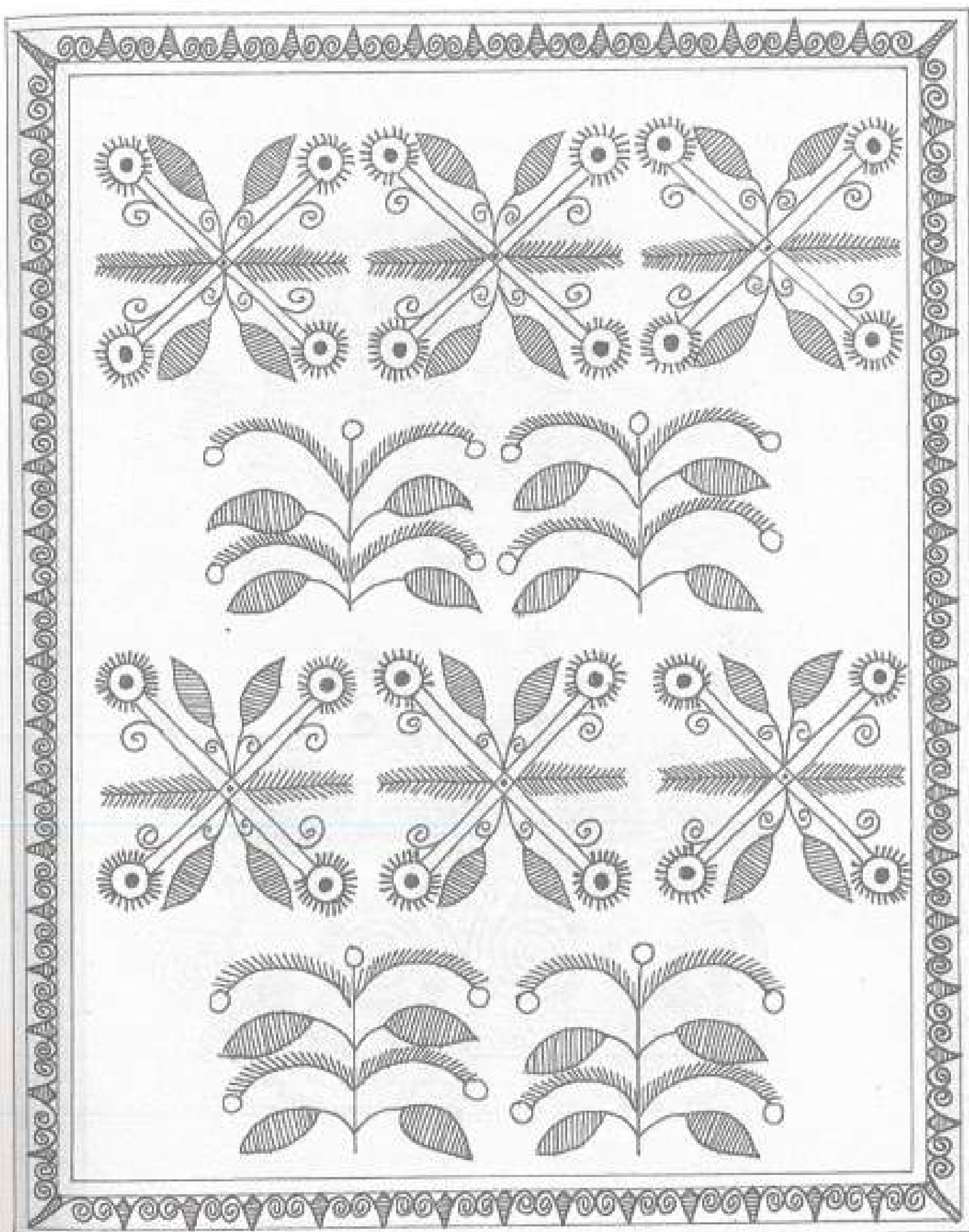


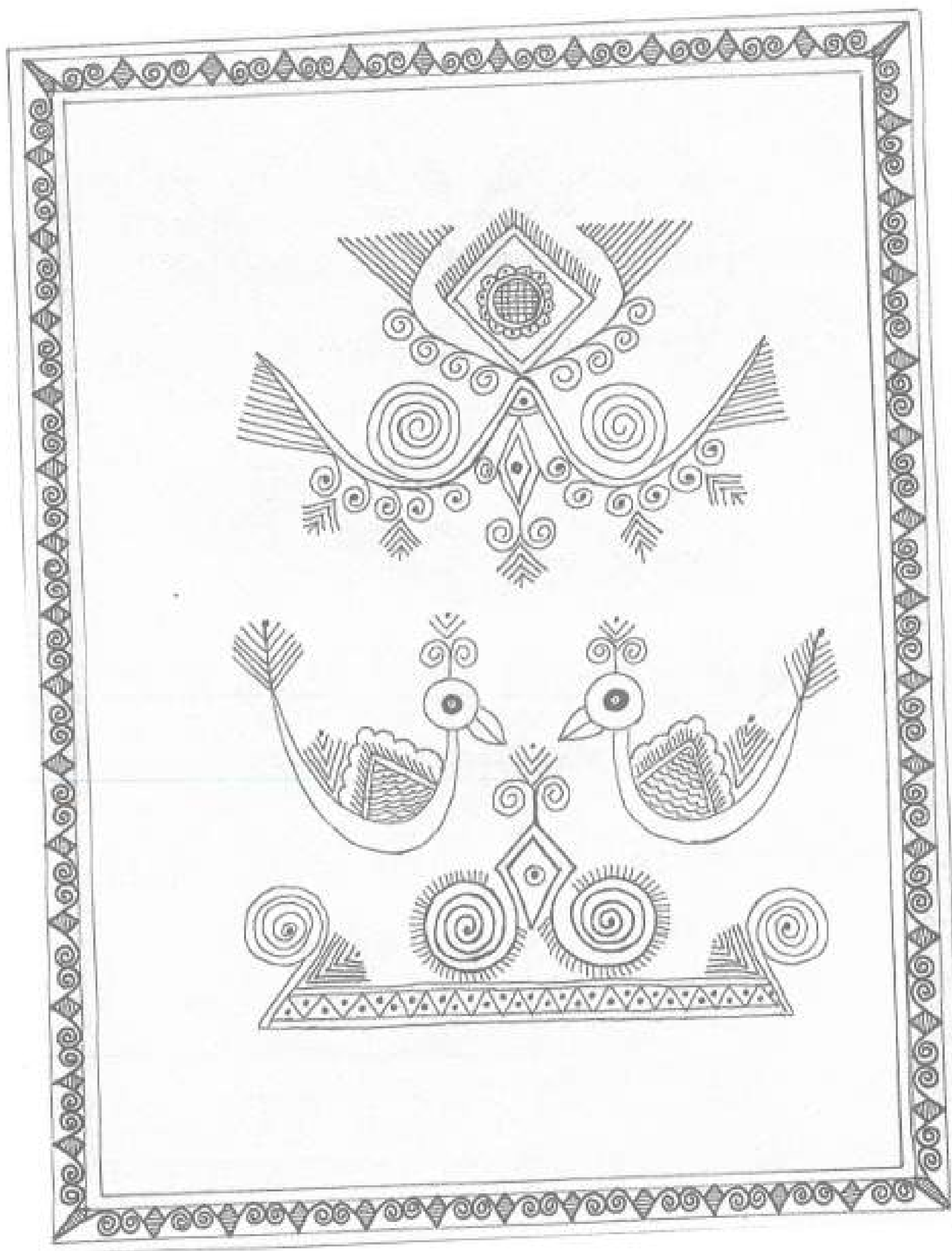




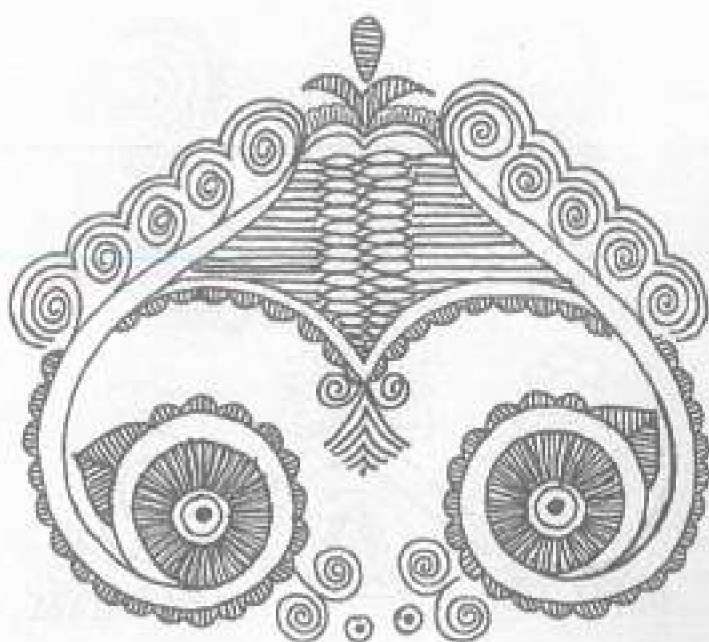


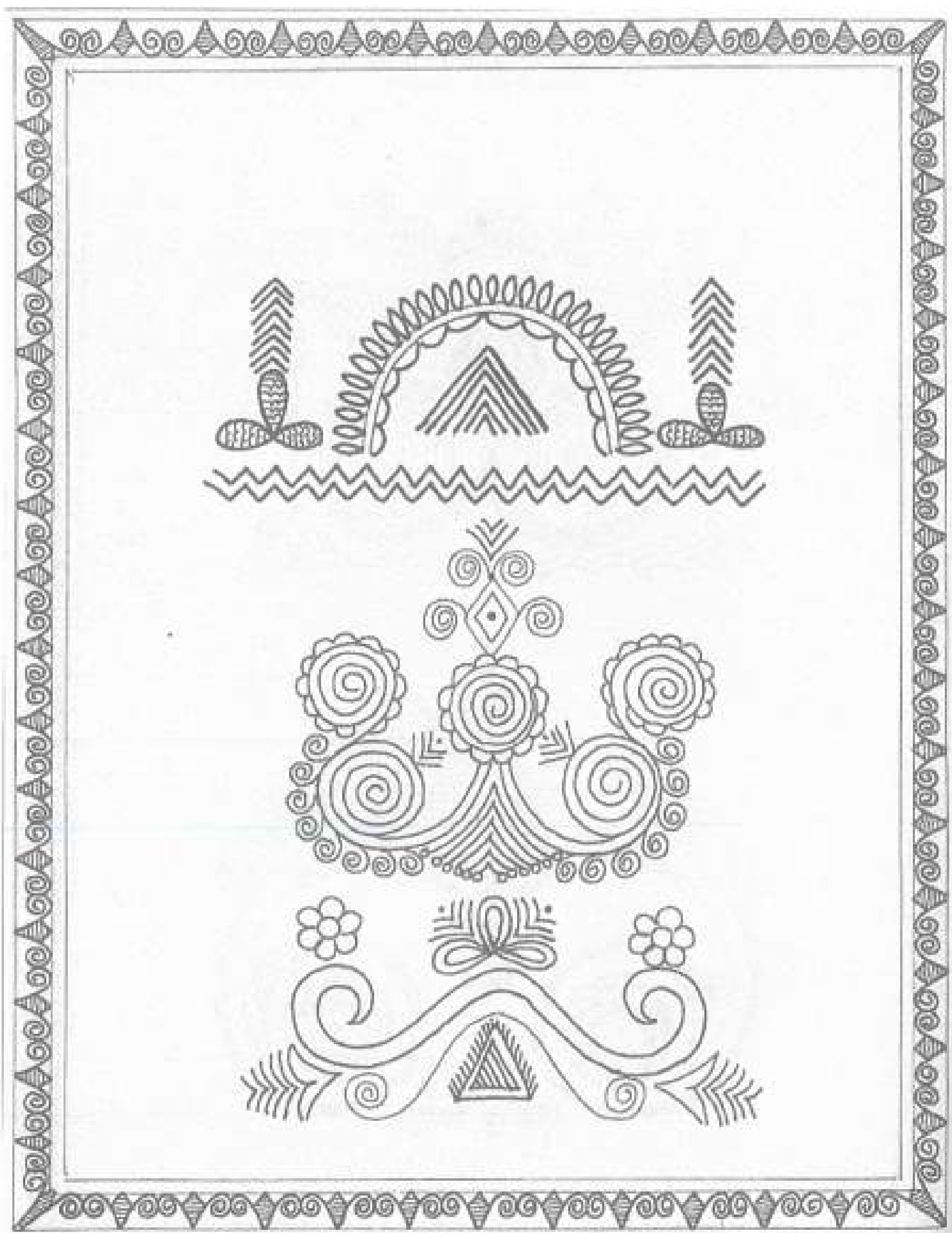


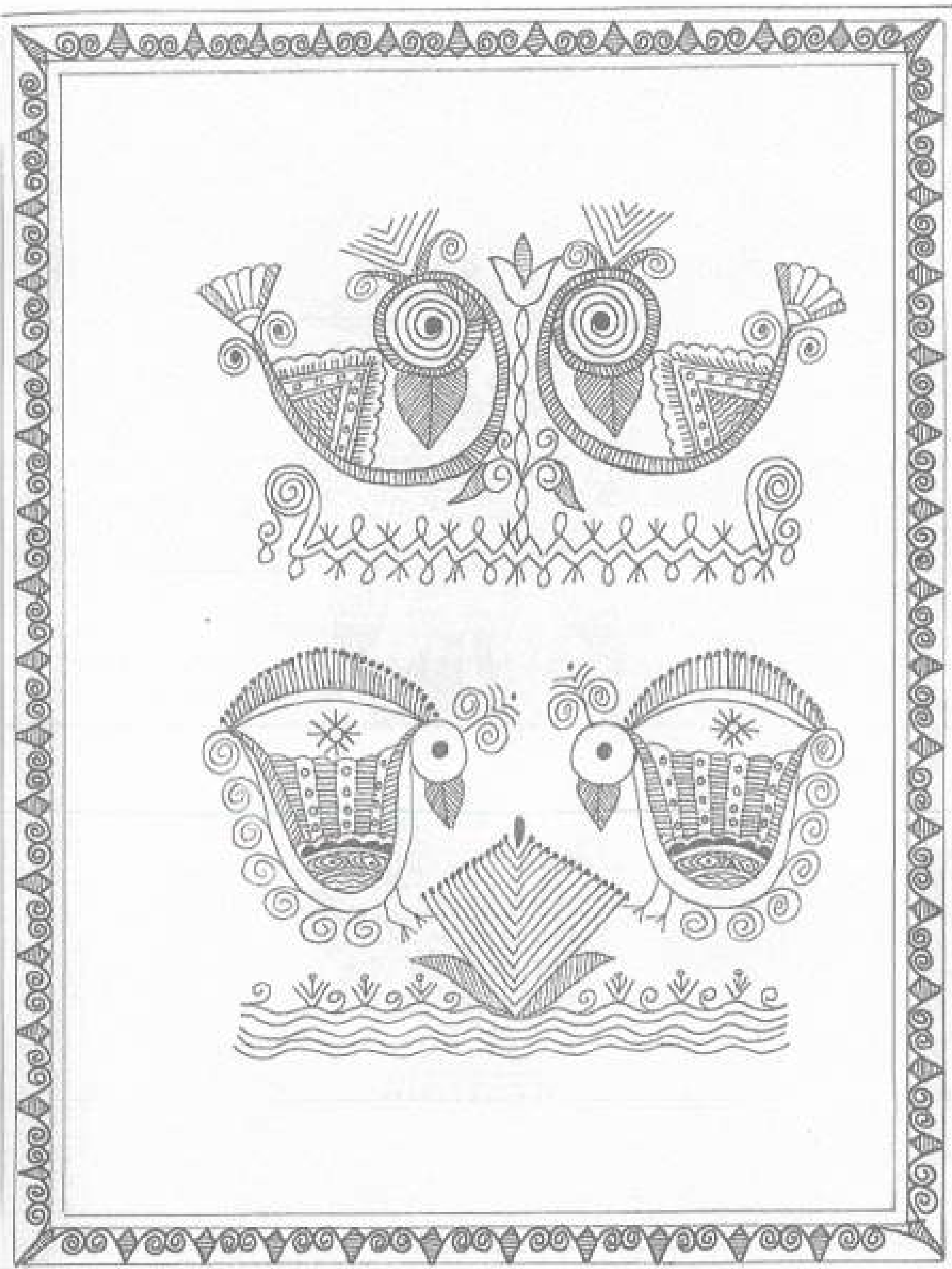


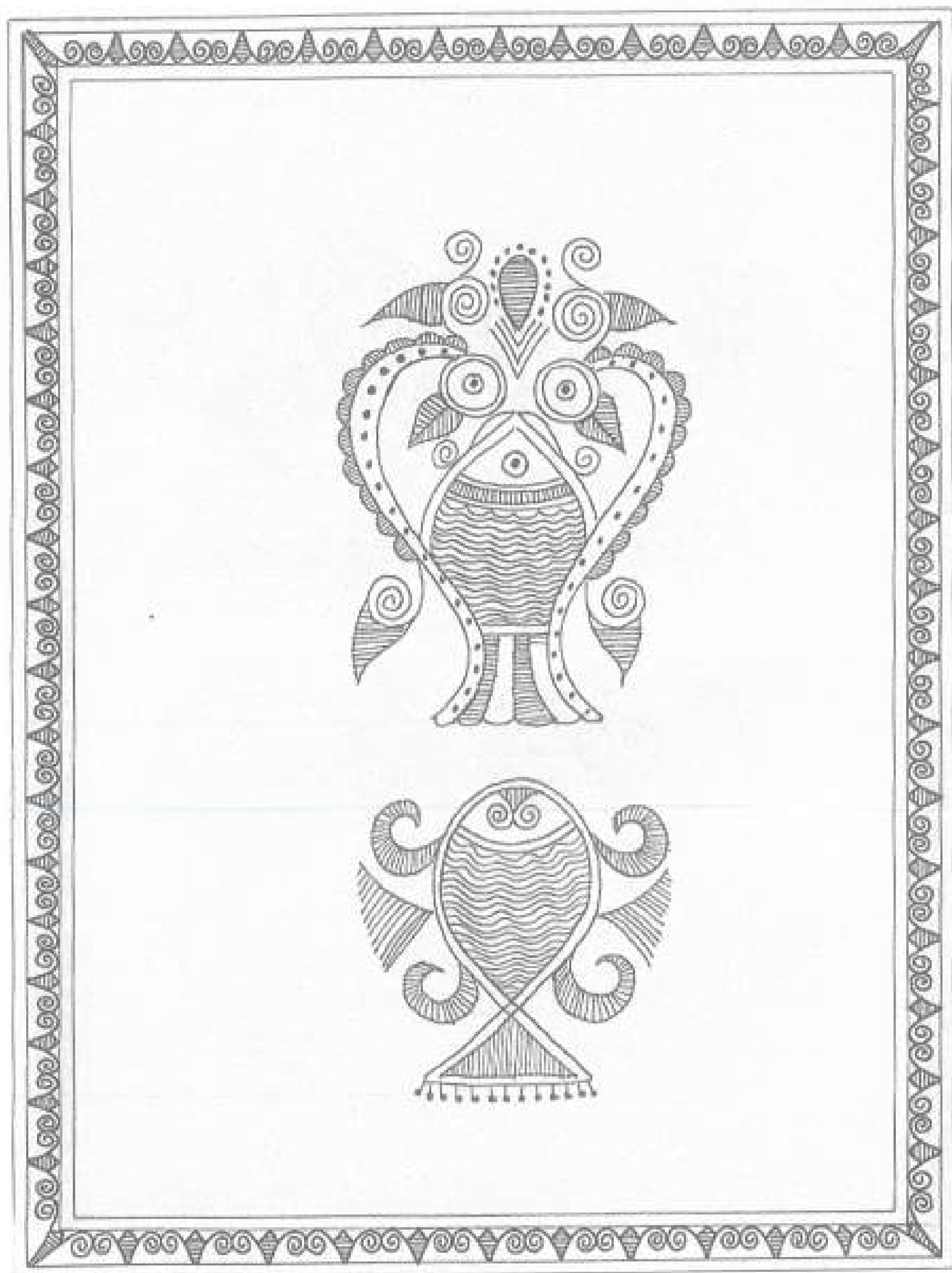


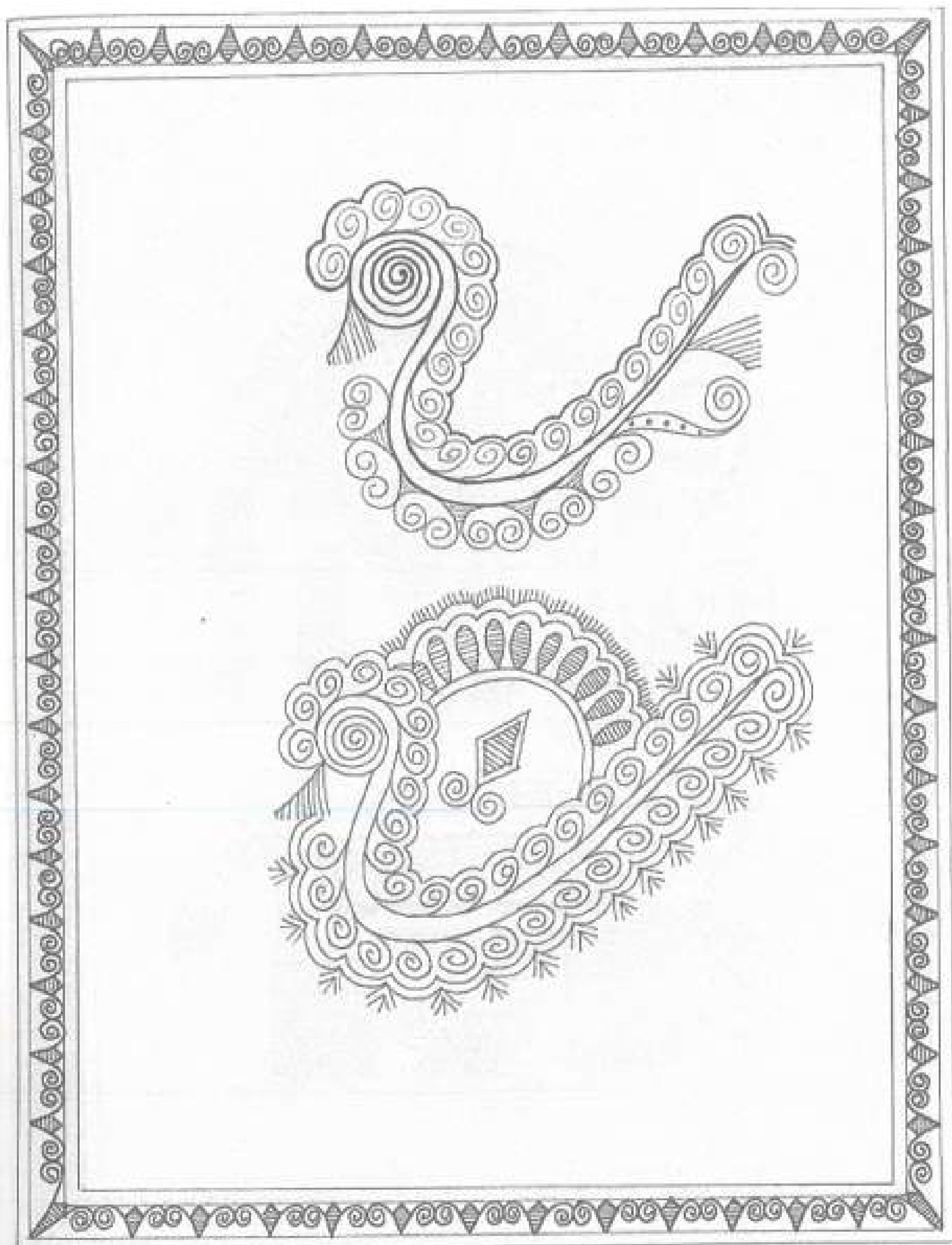


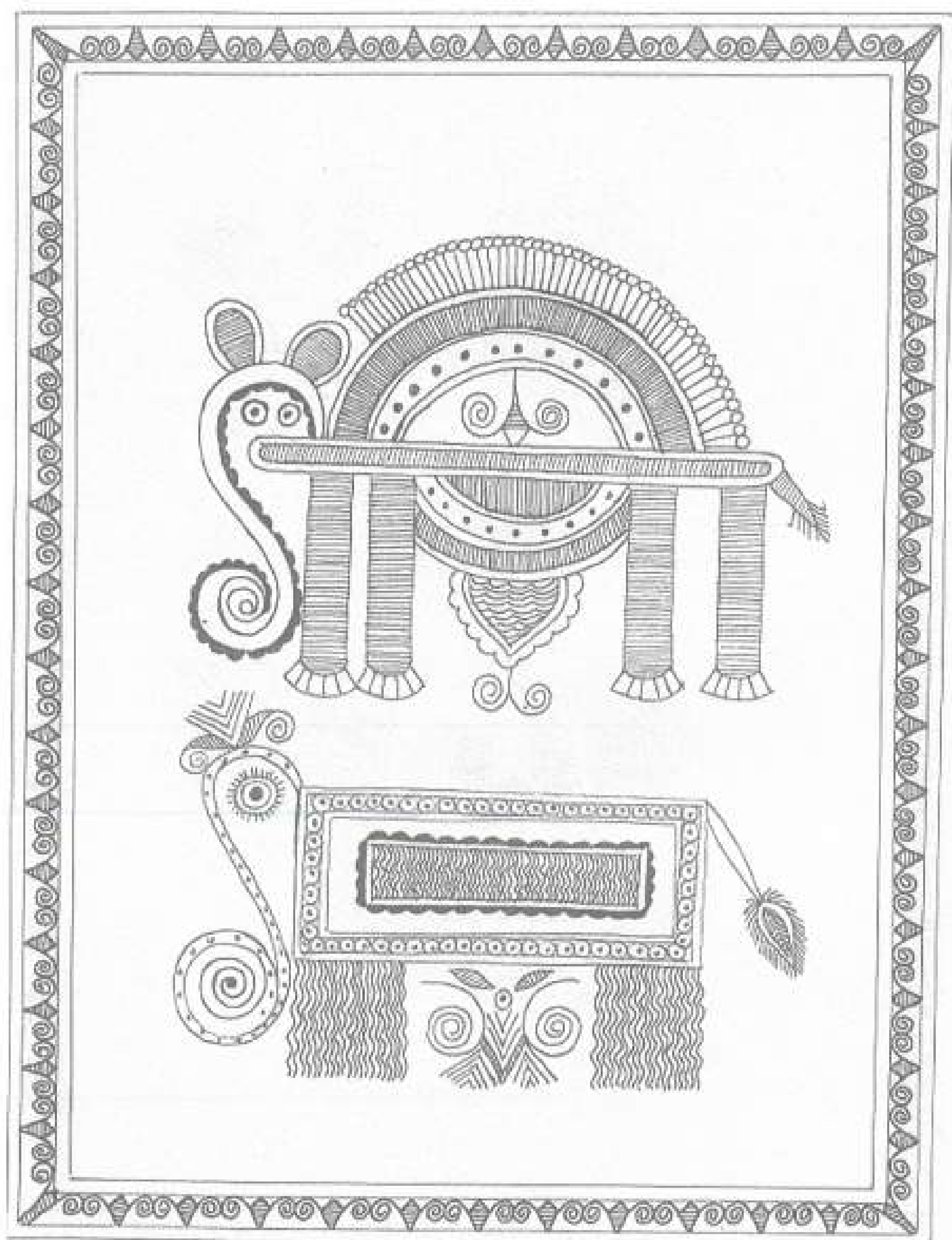


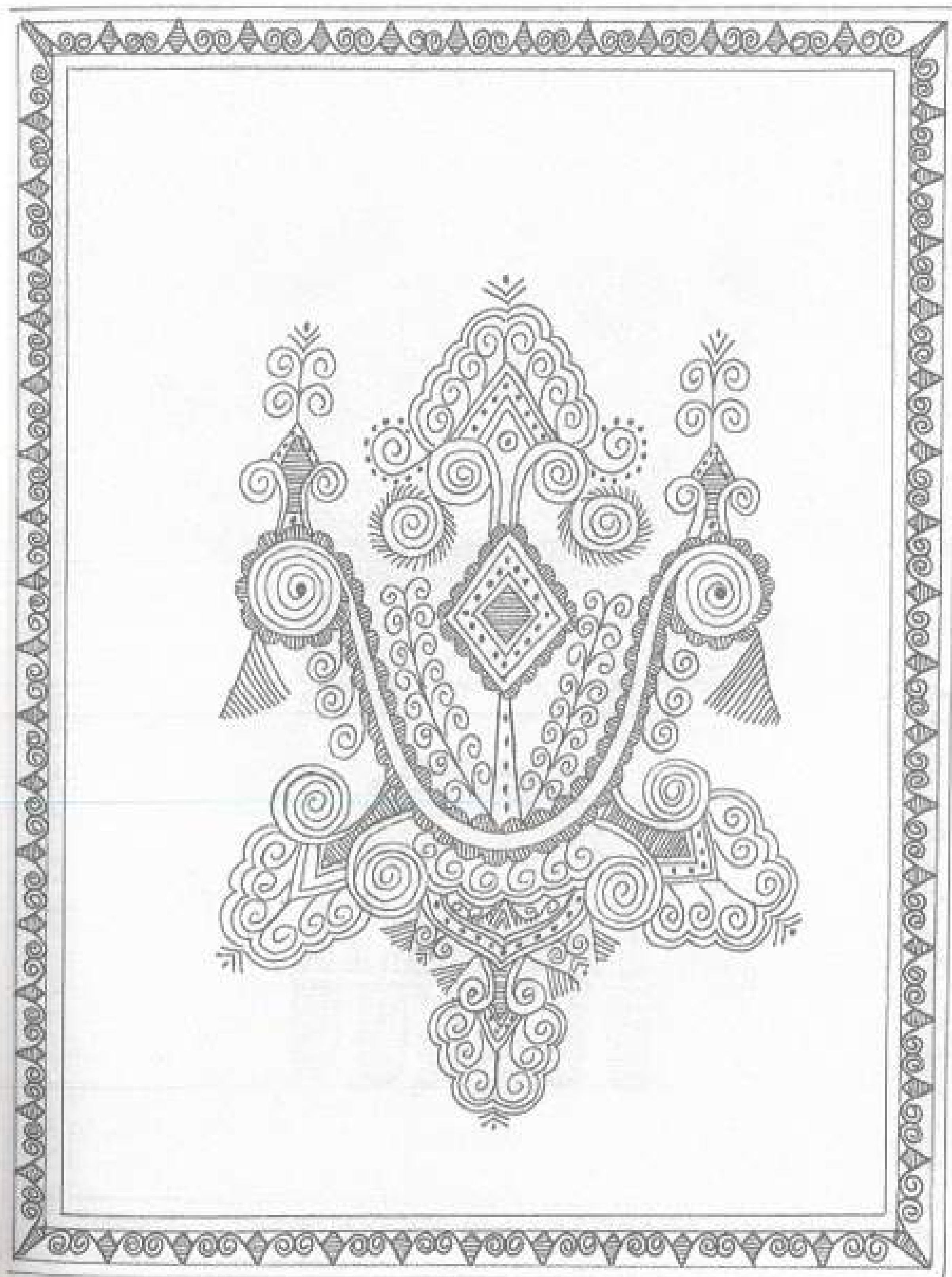


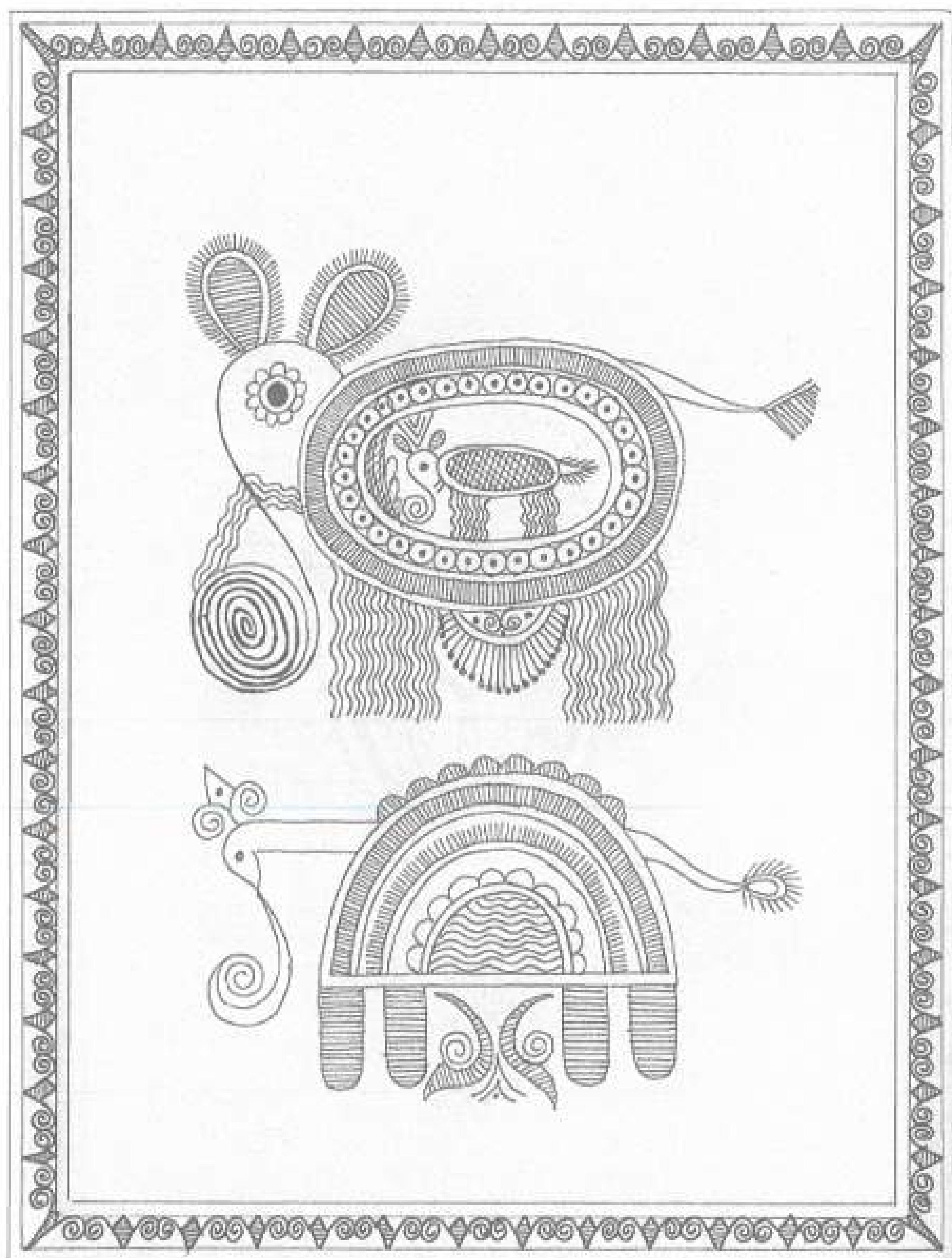


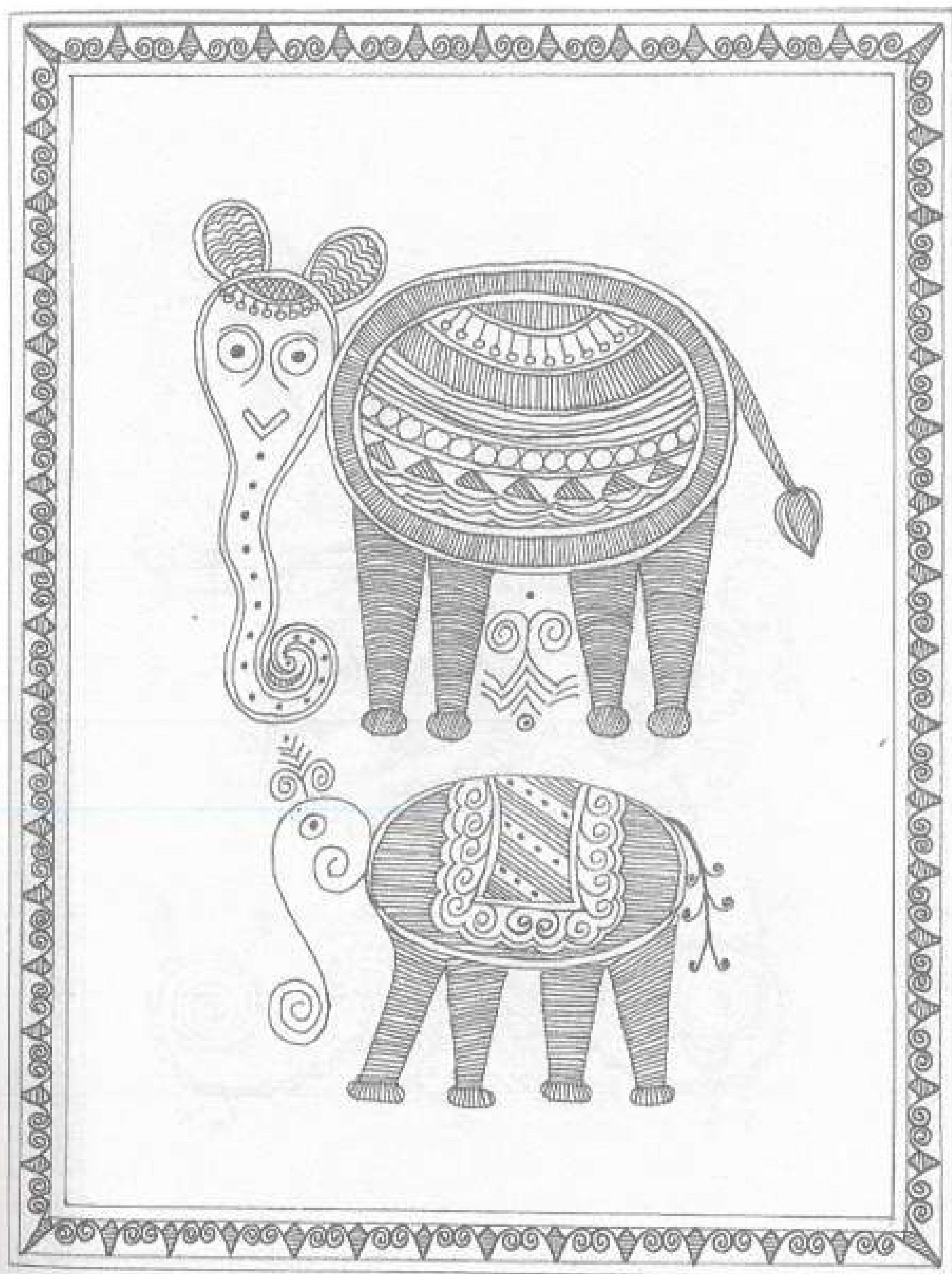


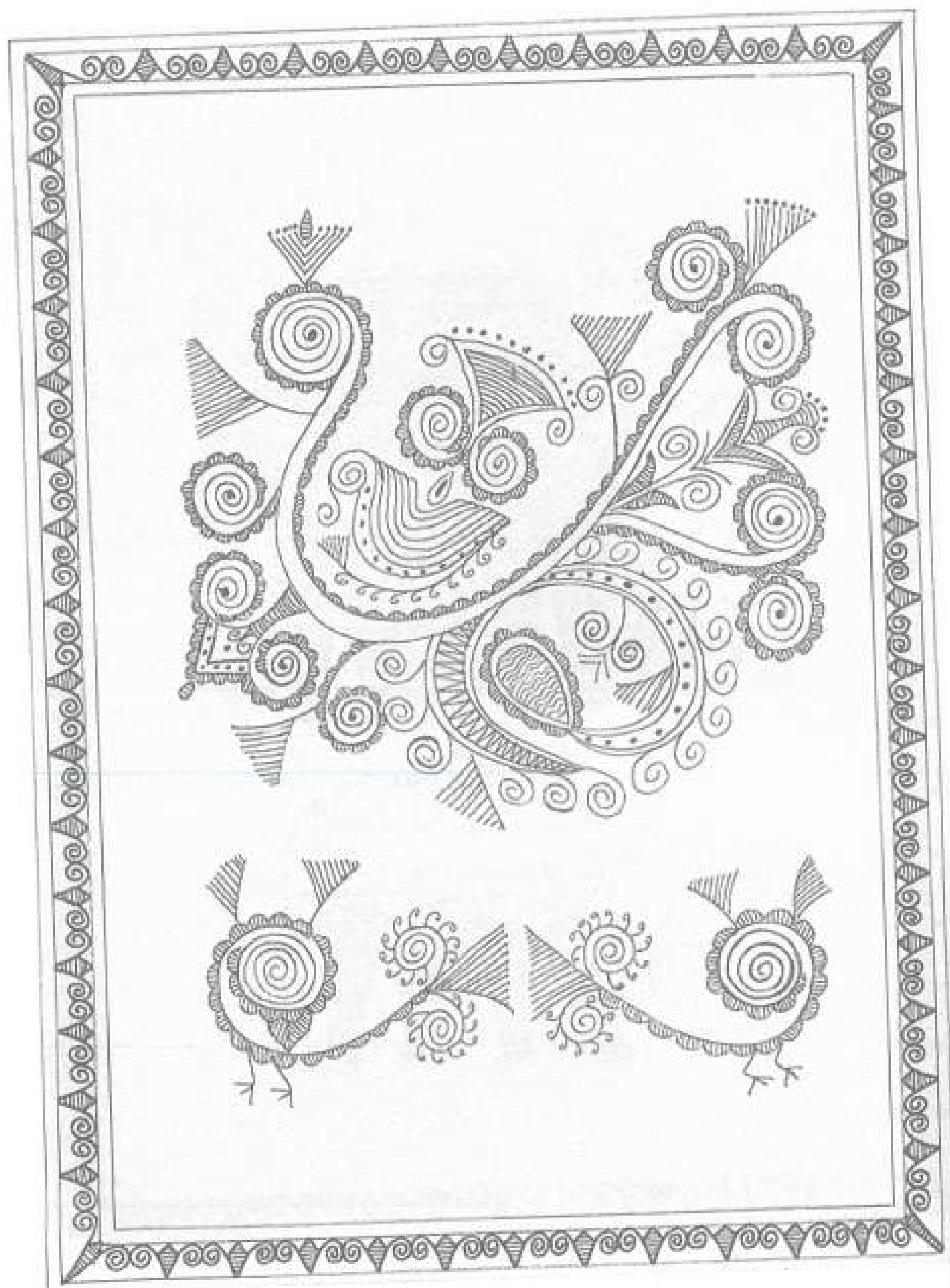


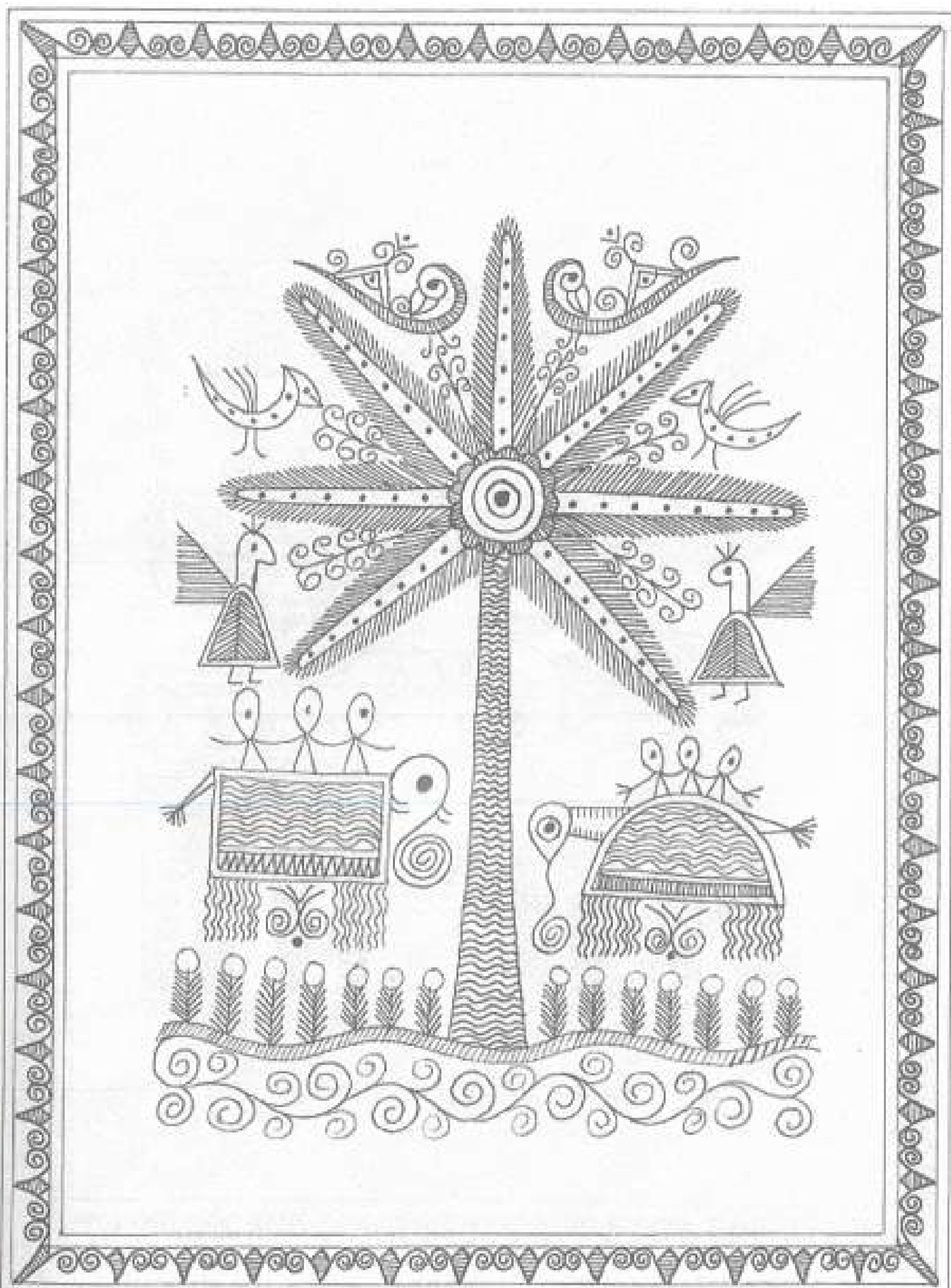


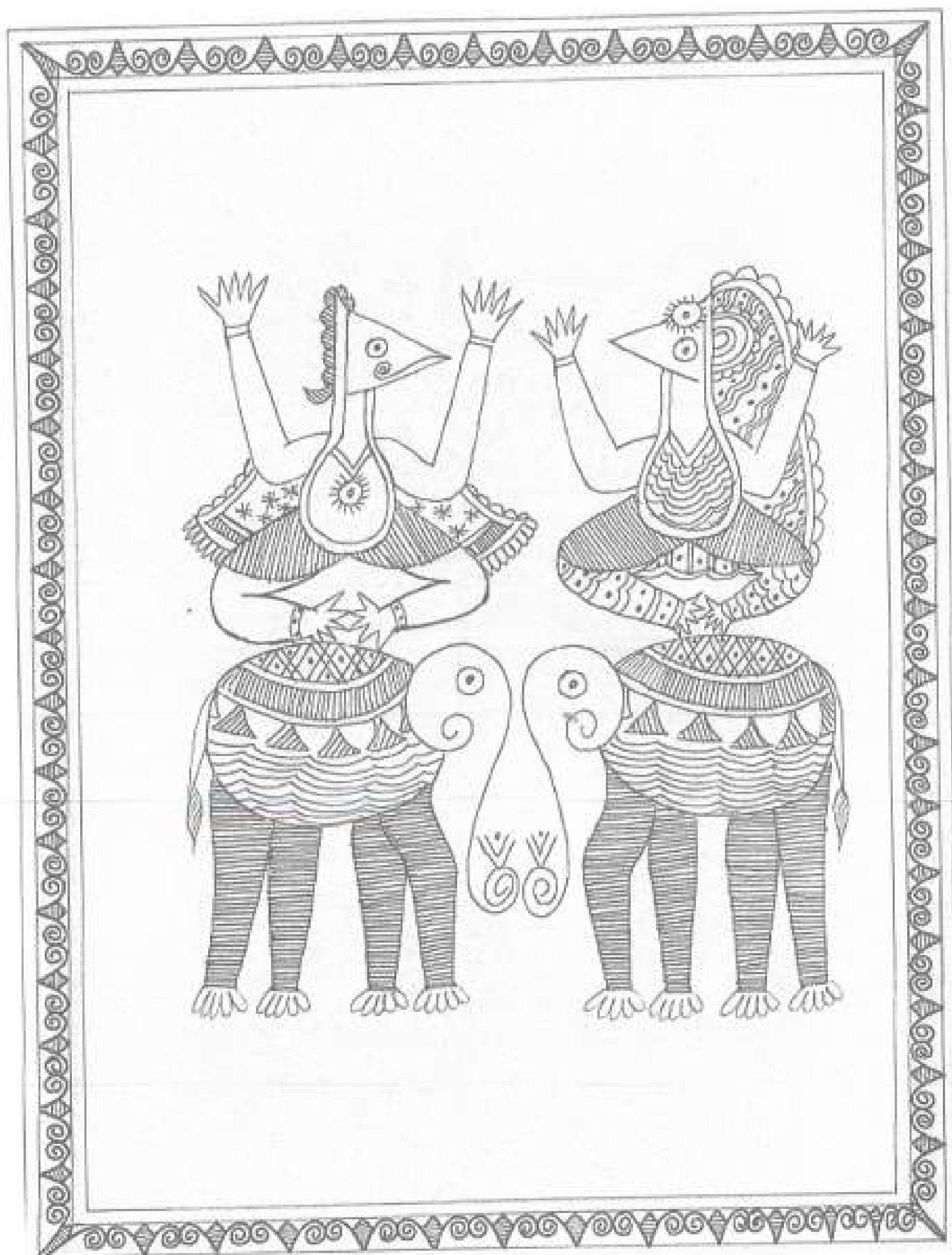




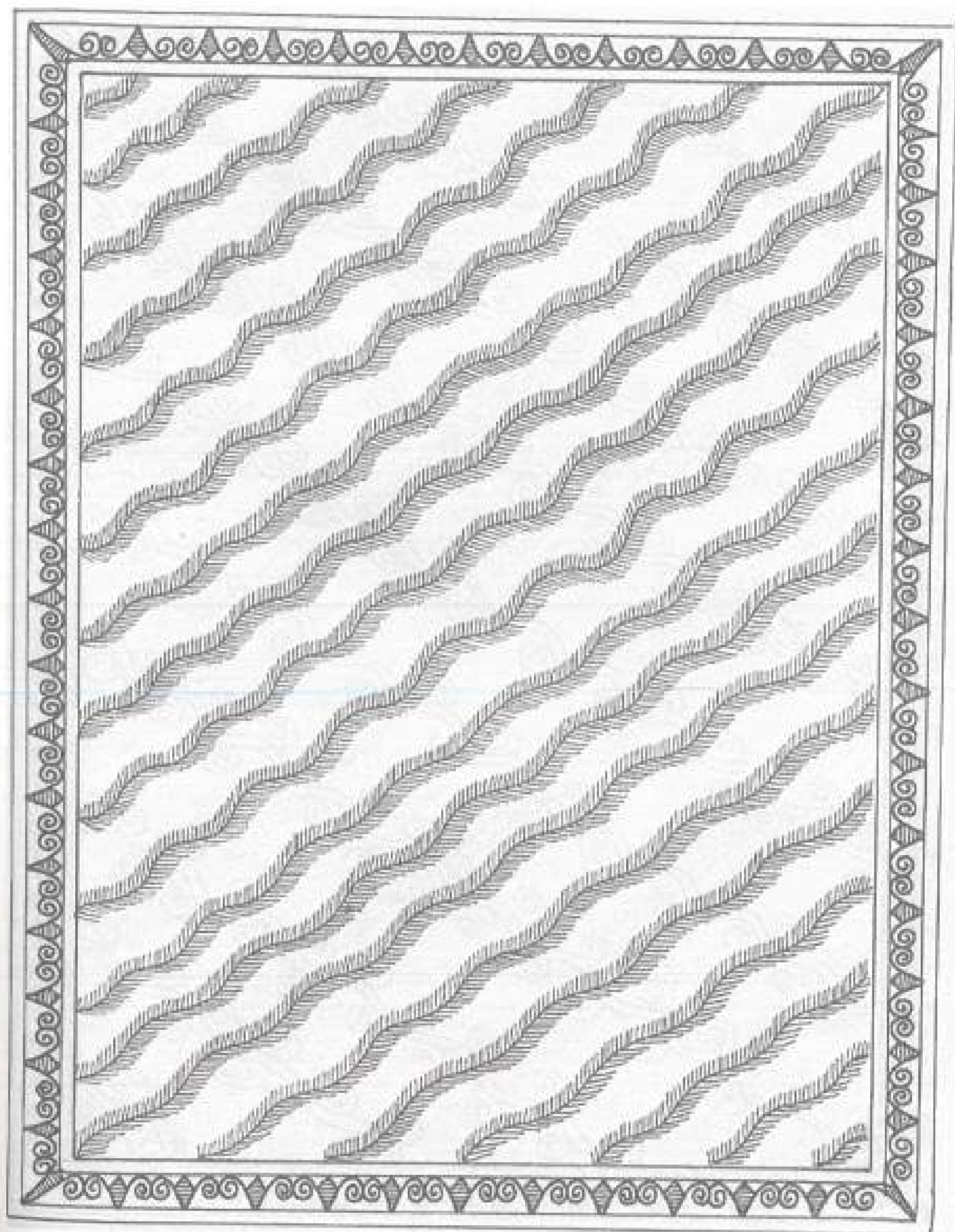


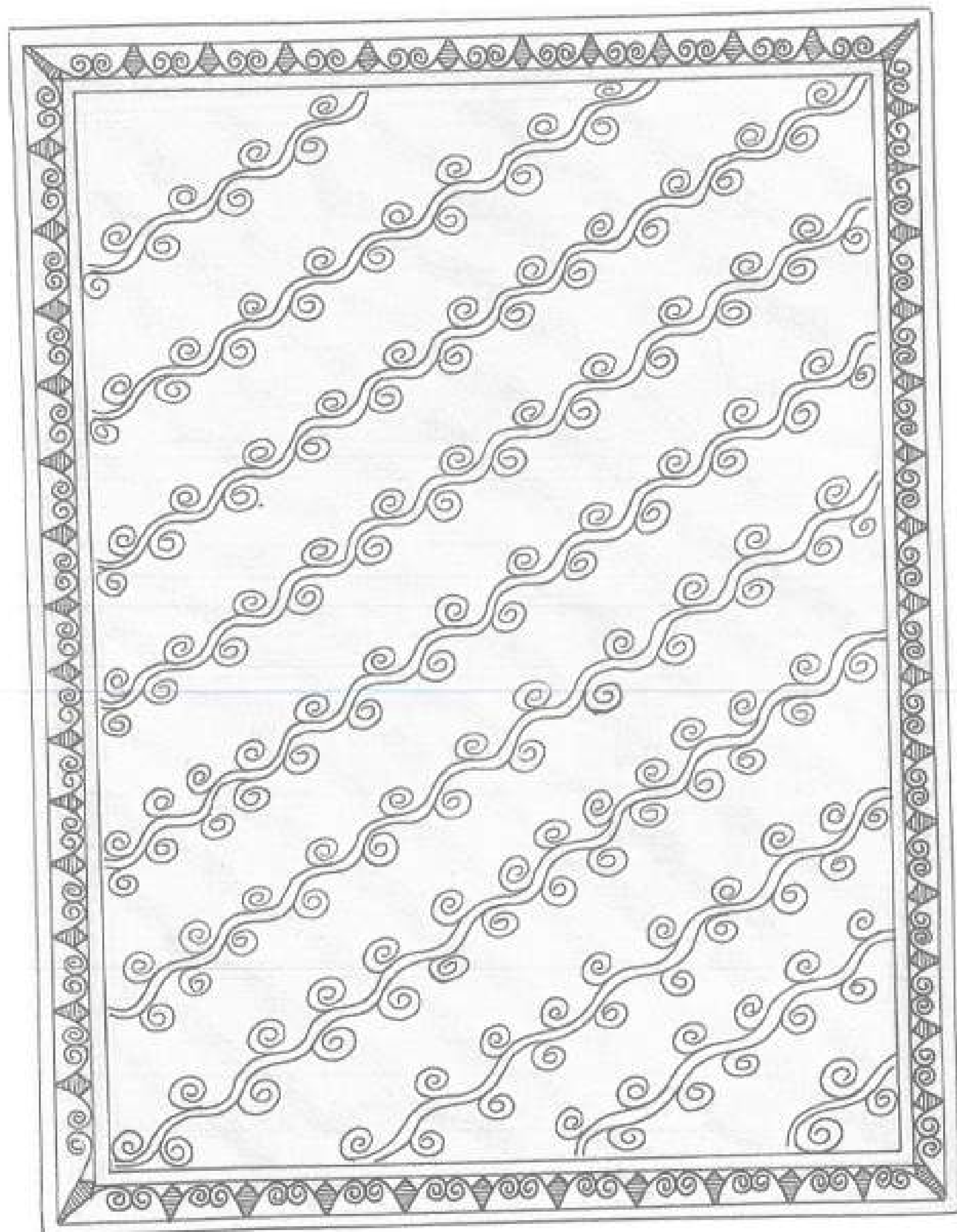


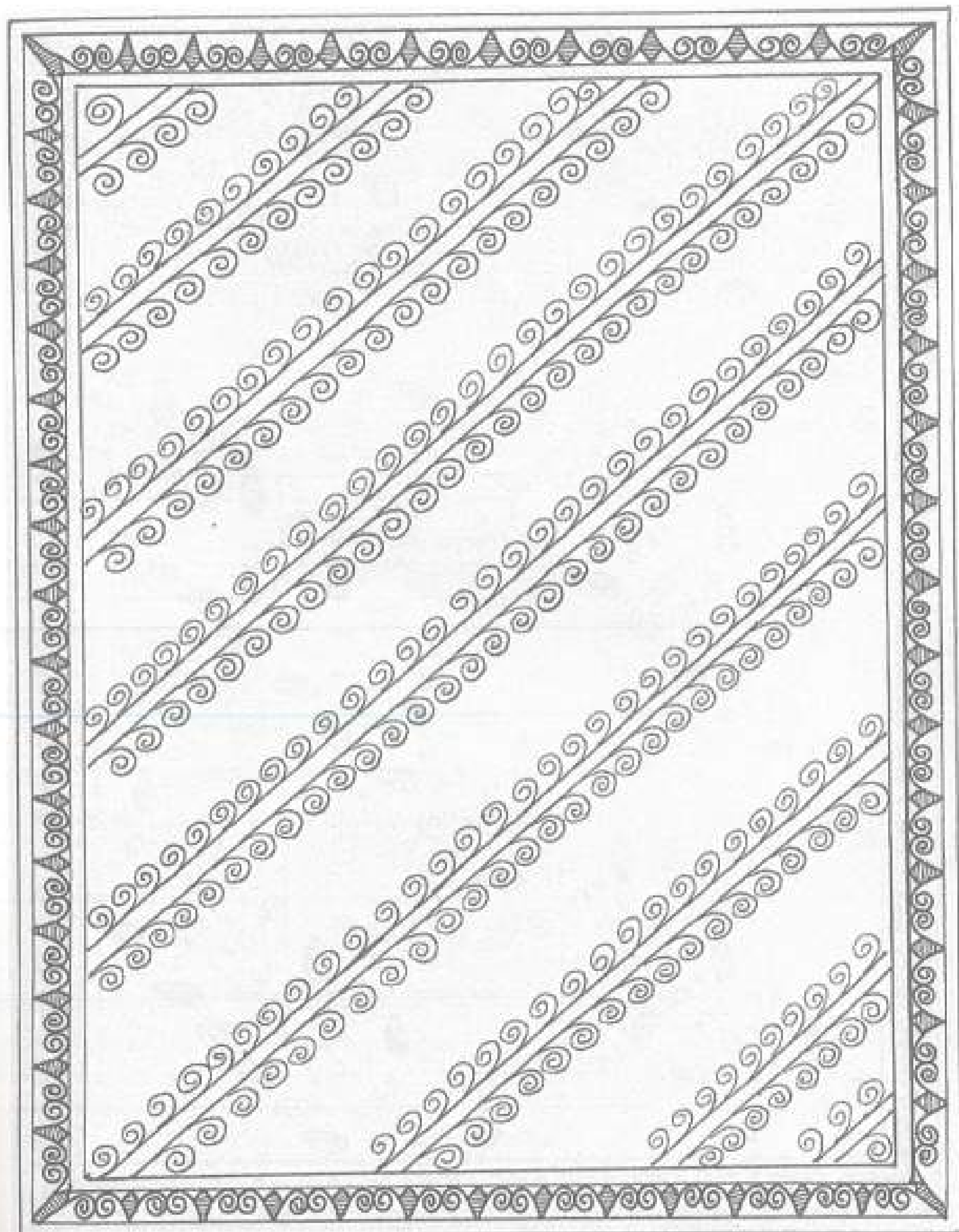




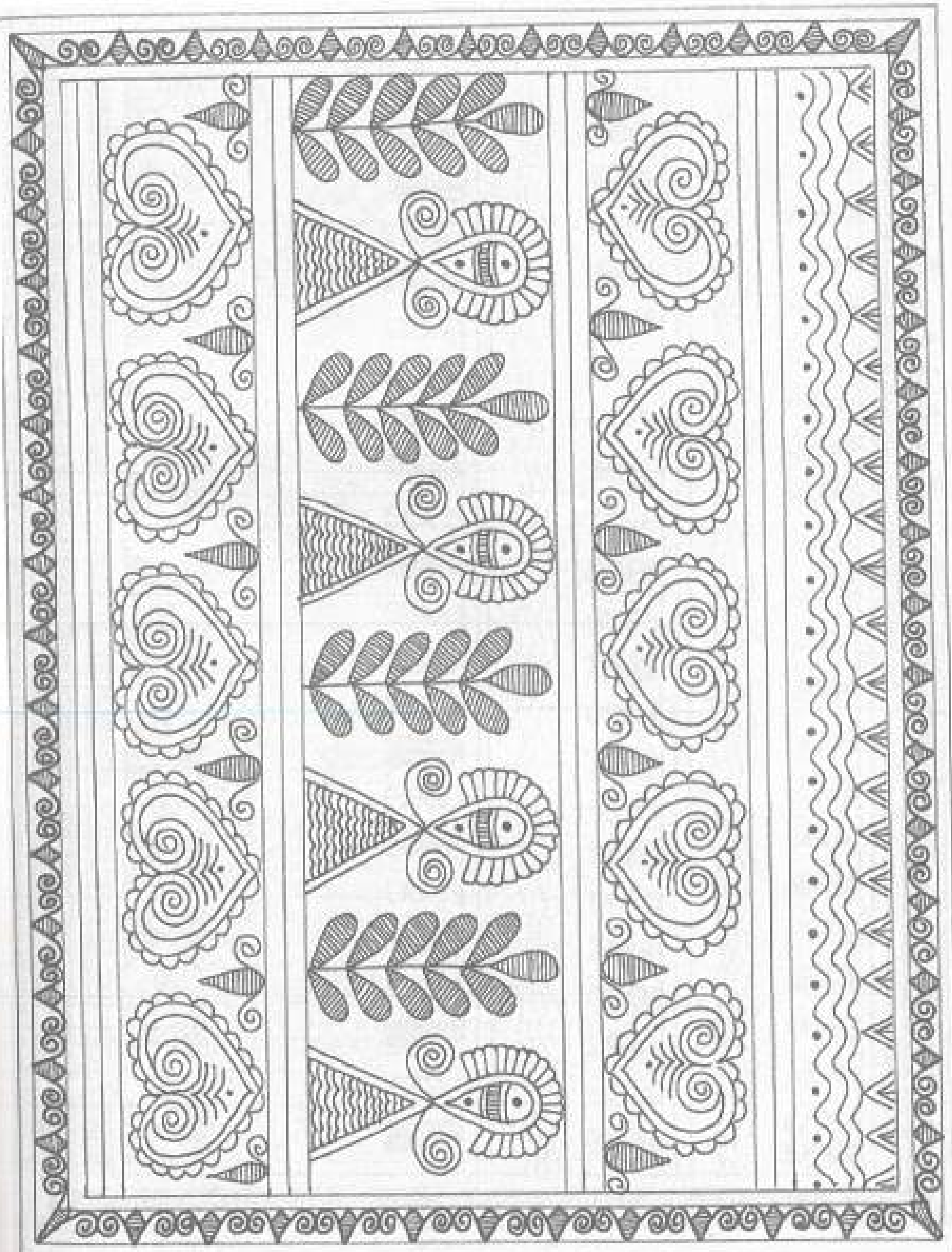
गोदना कोर

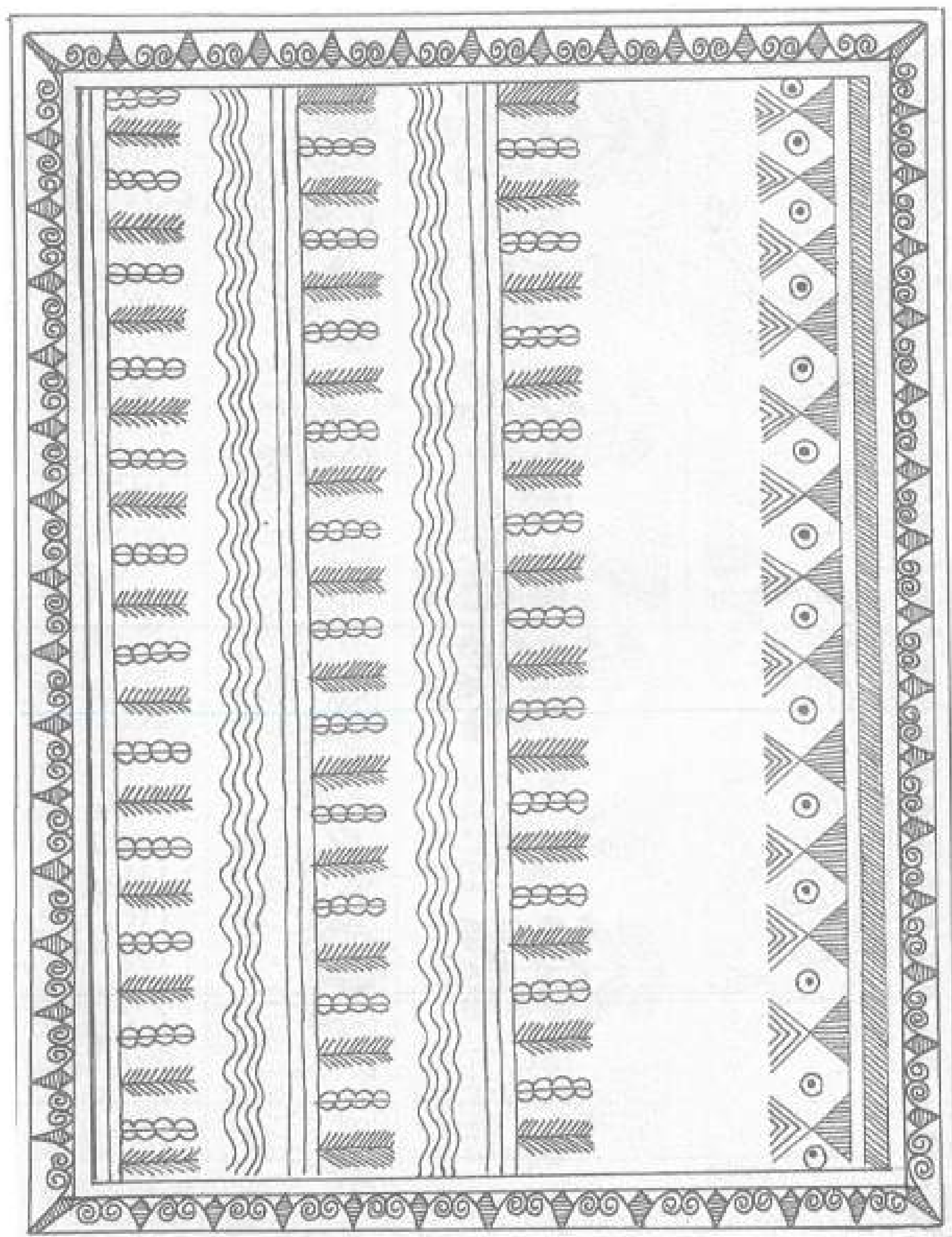


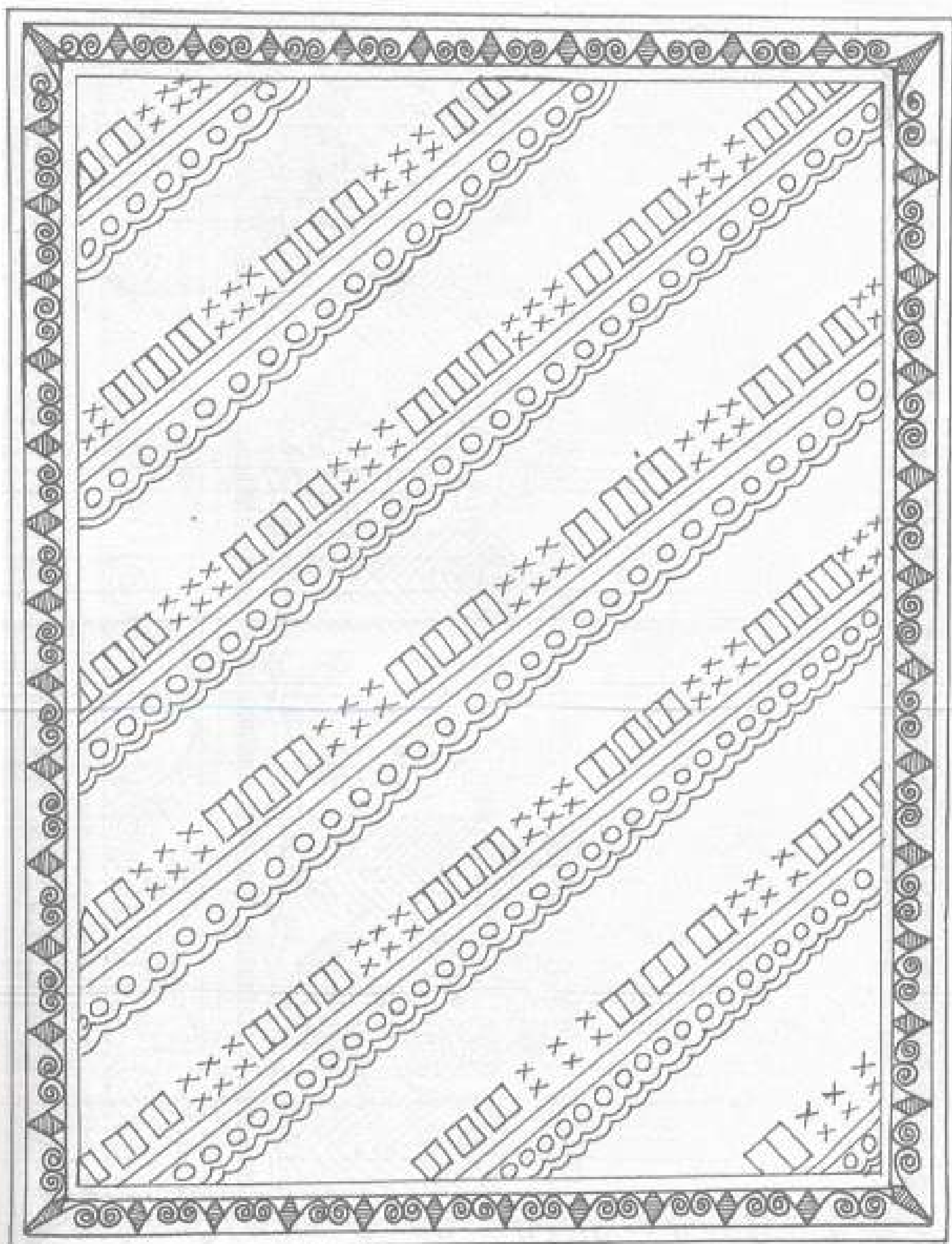


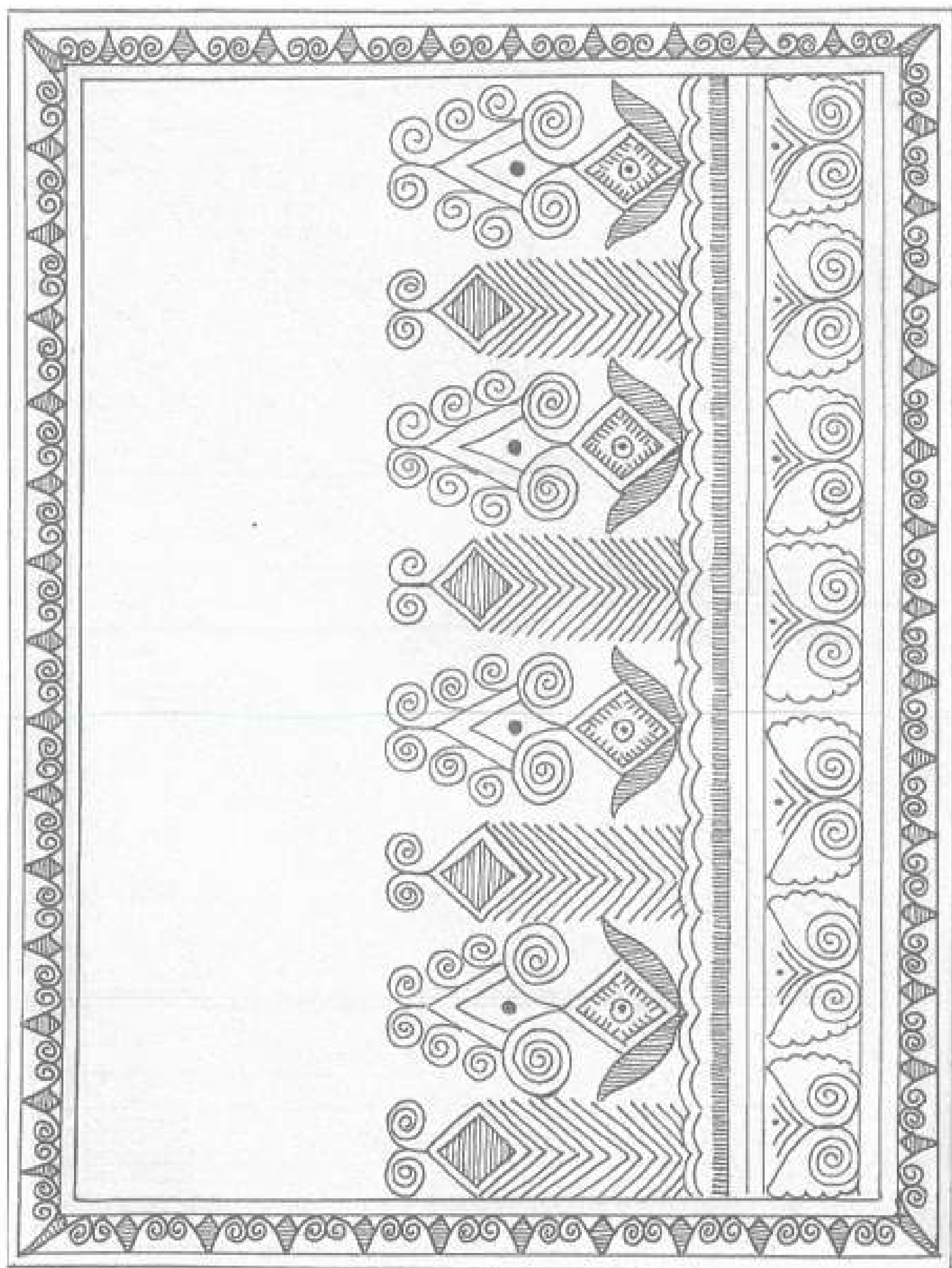


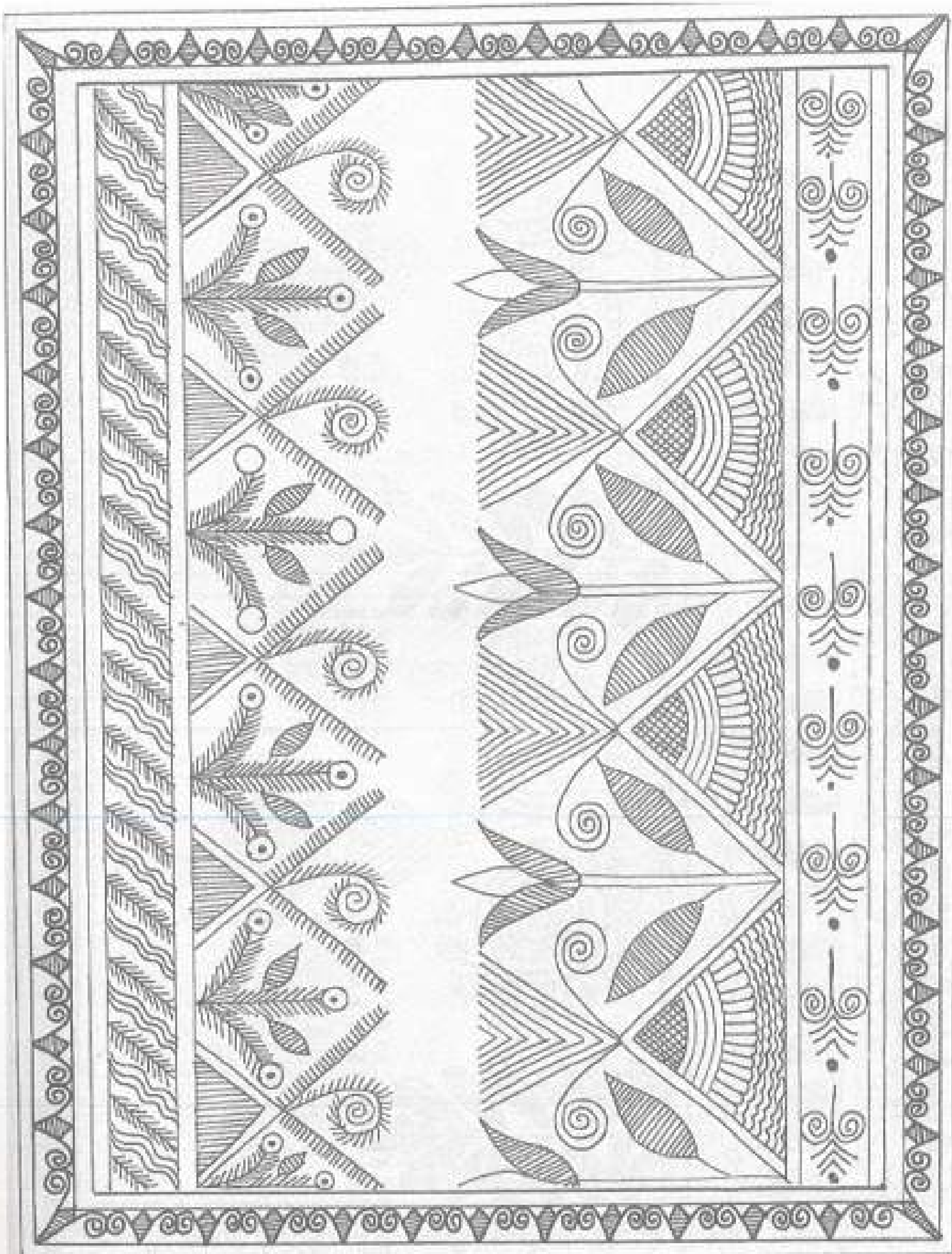




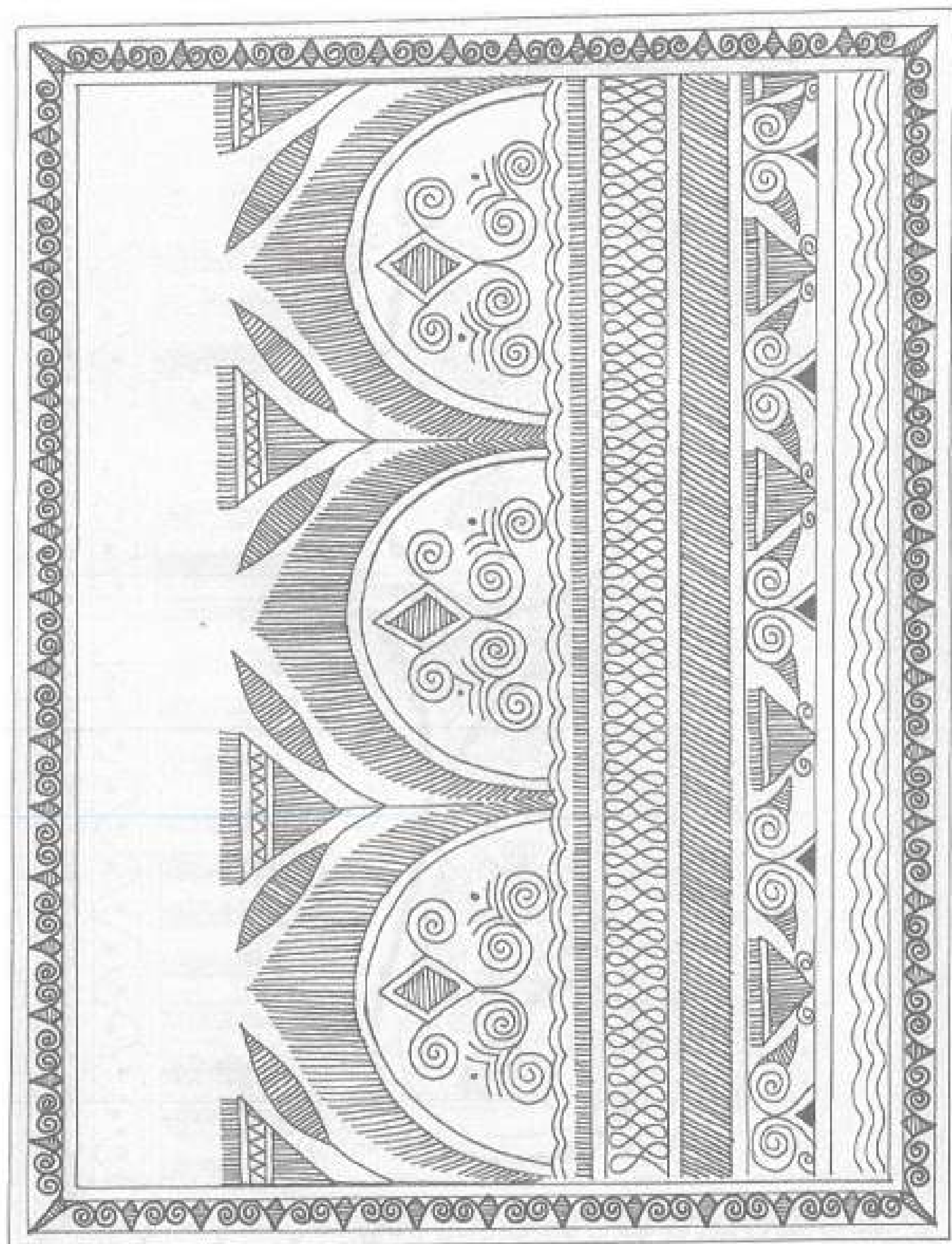


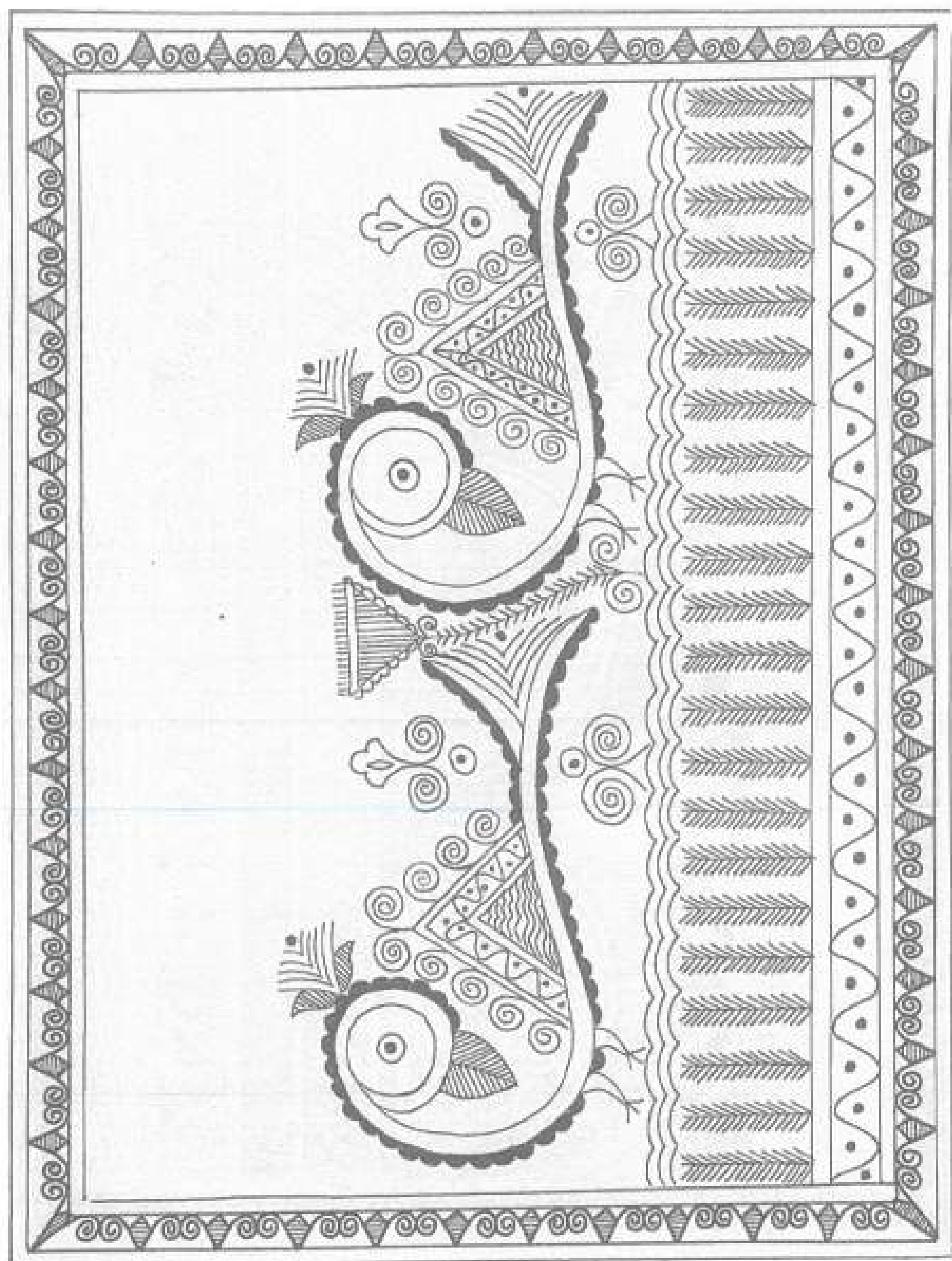


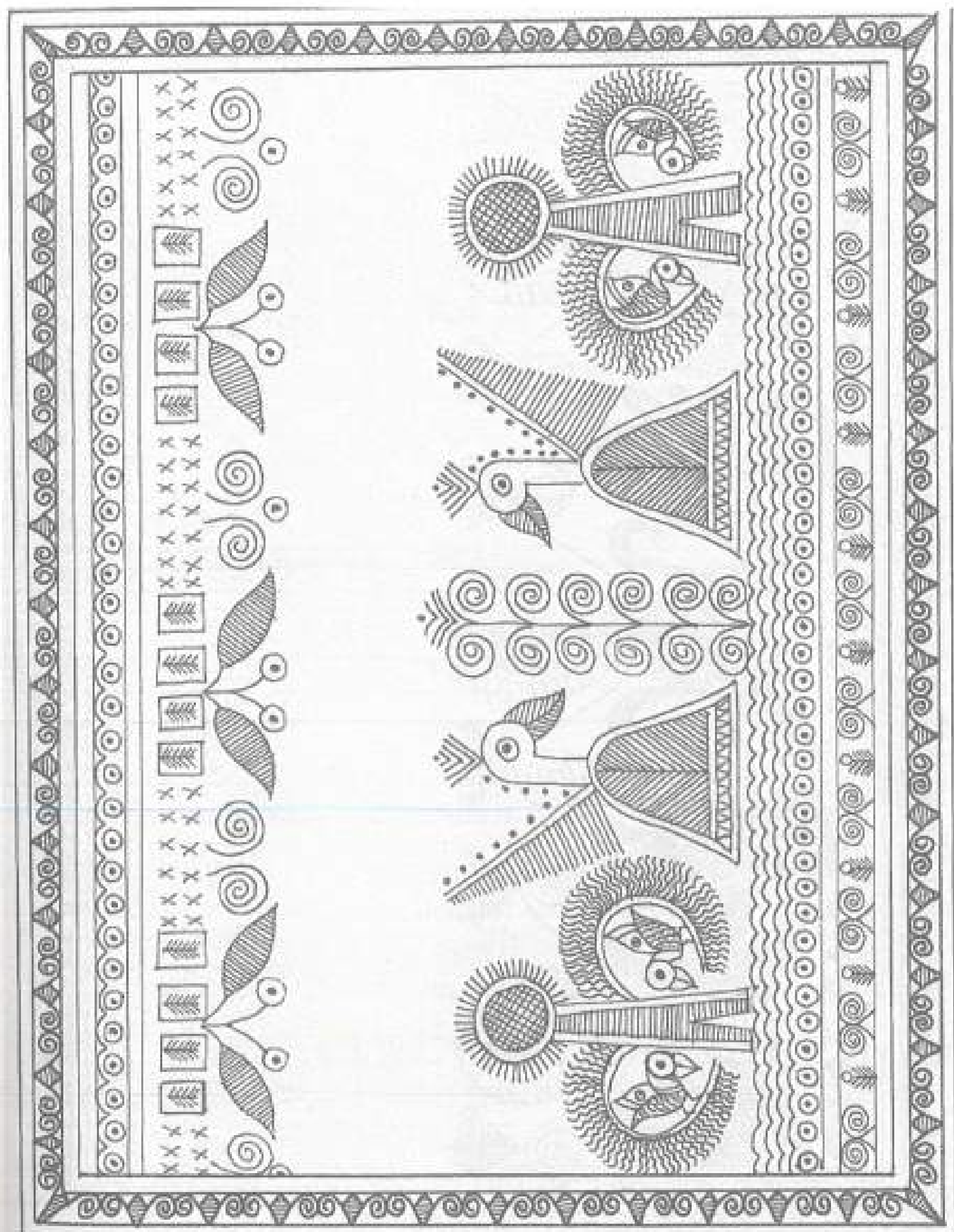


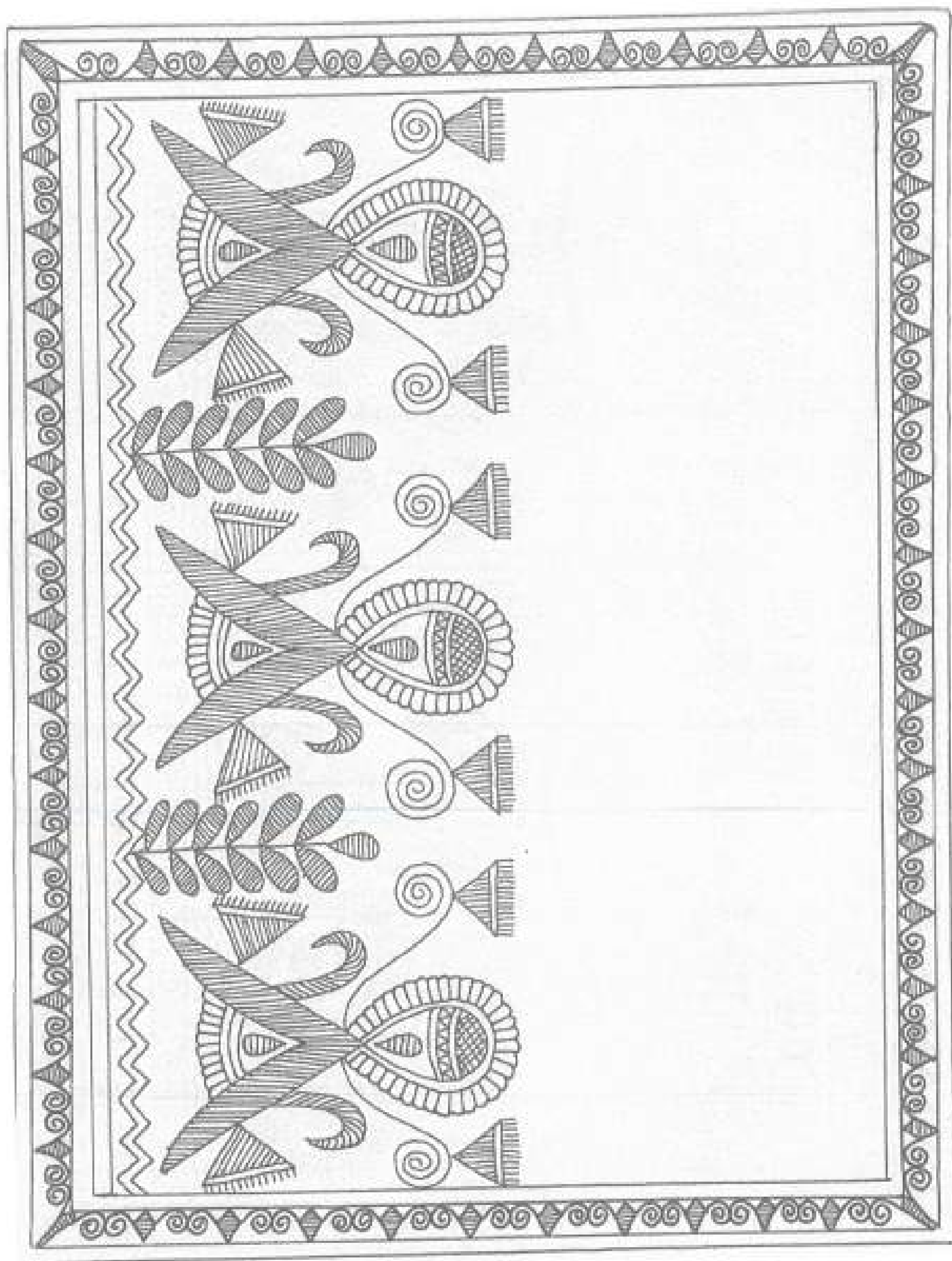


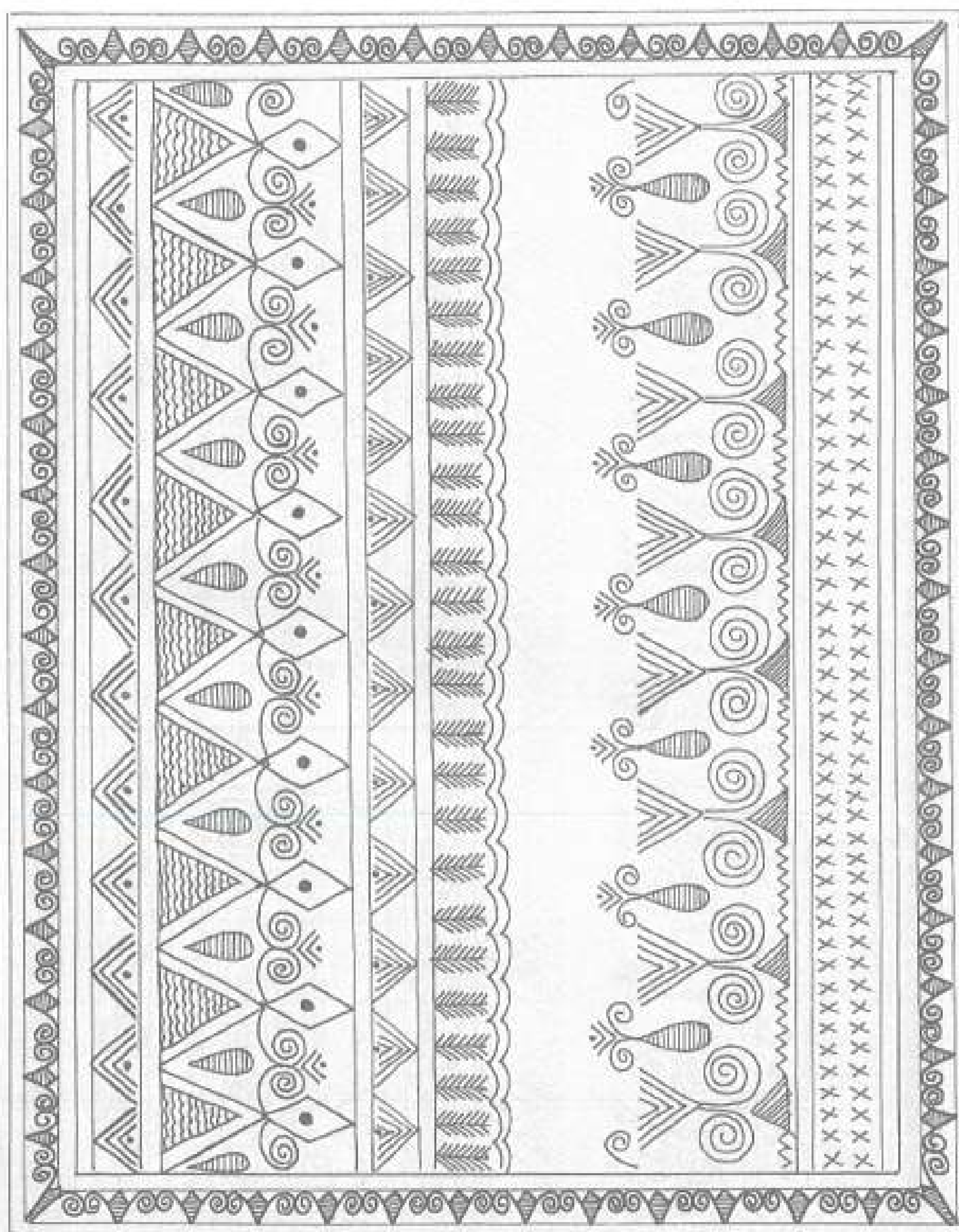


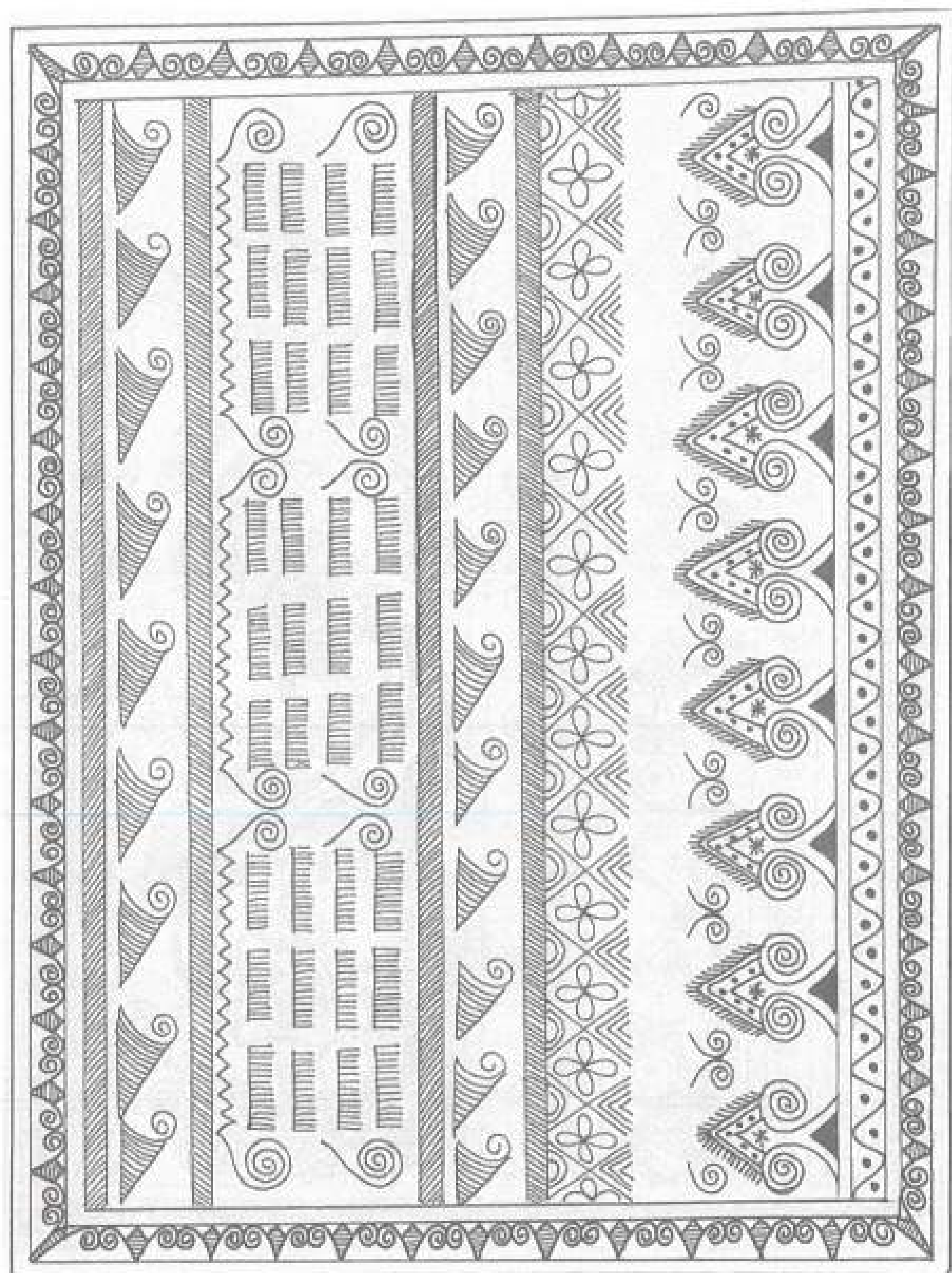


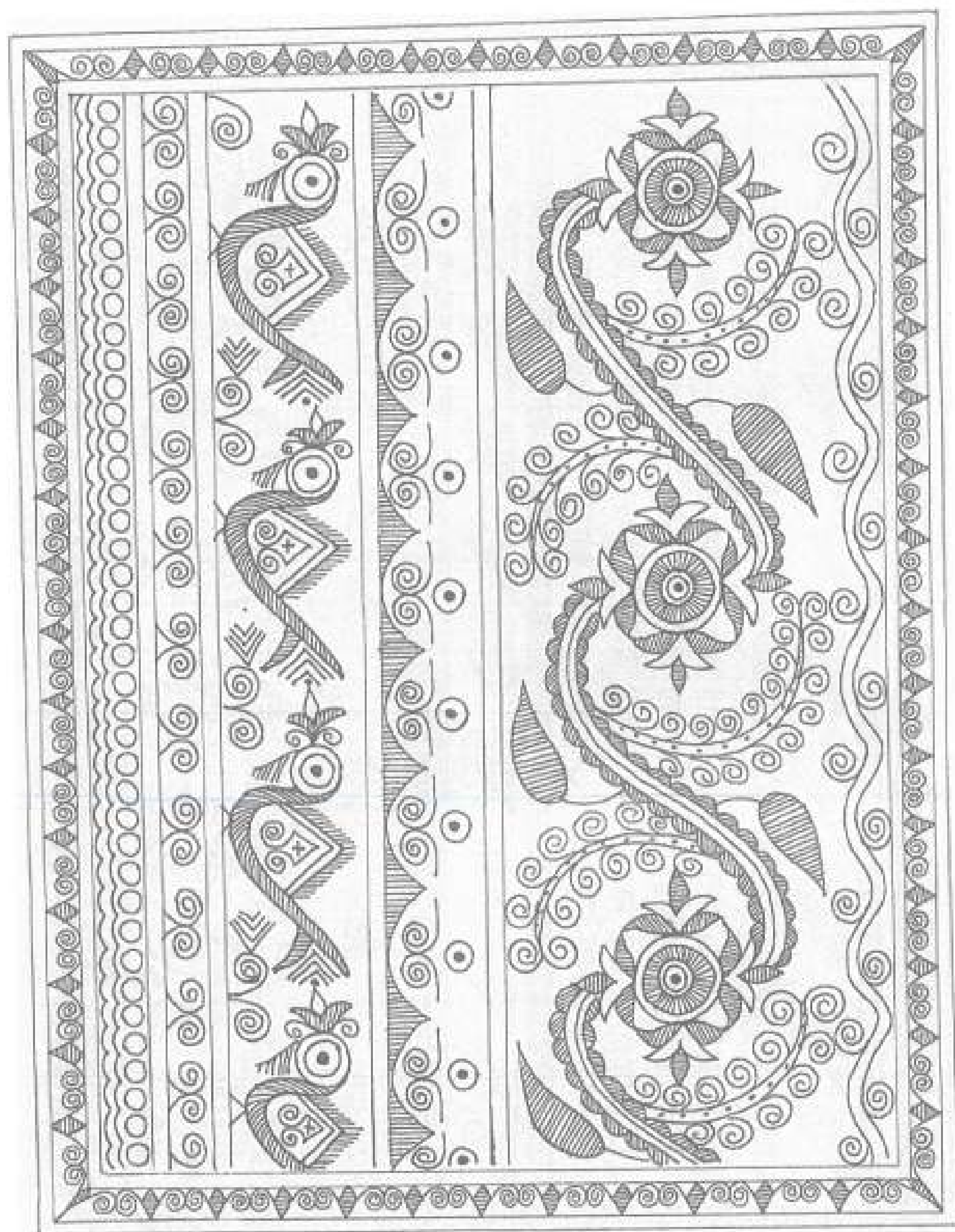


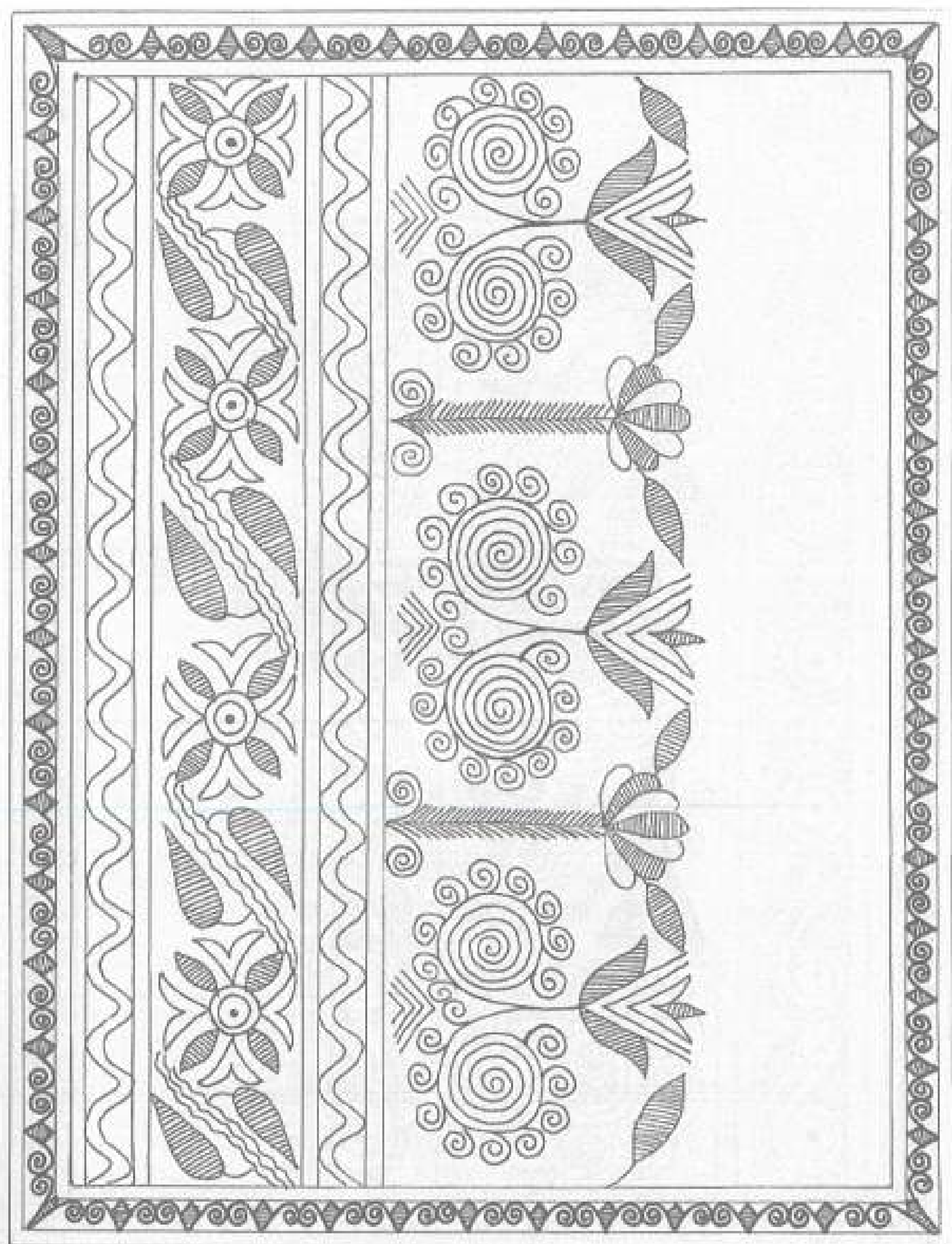


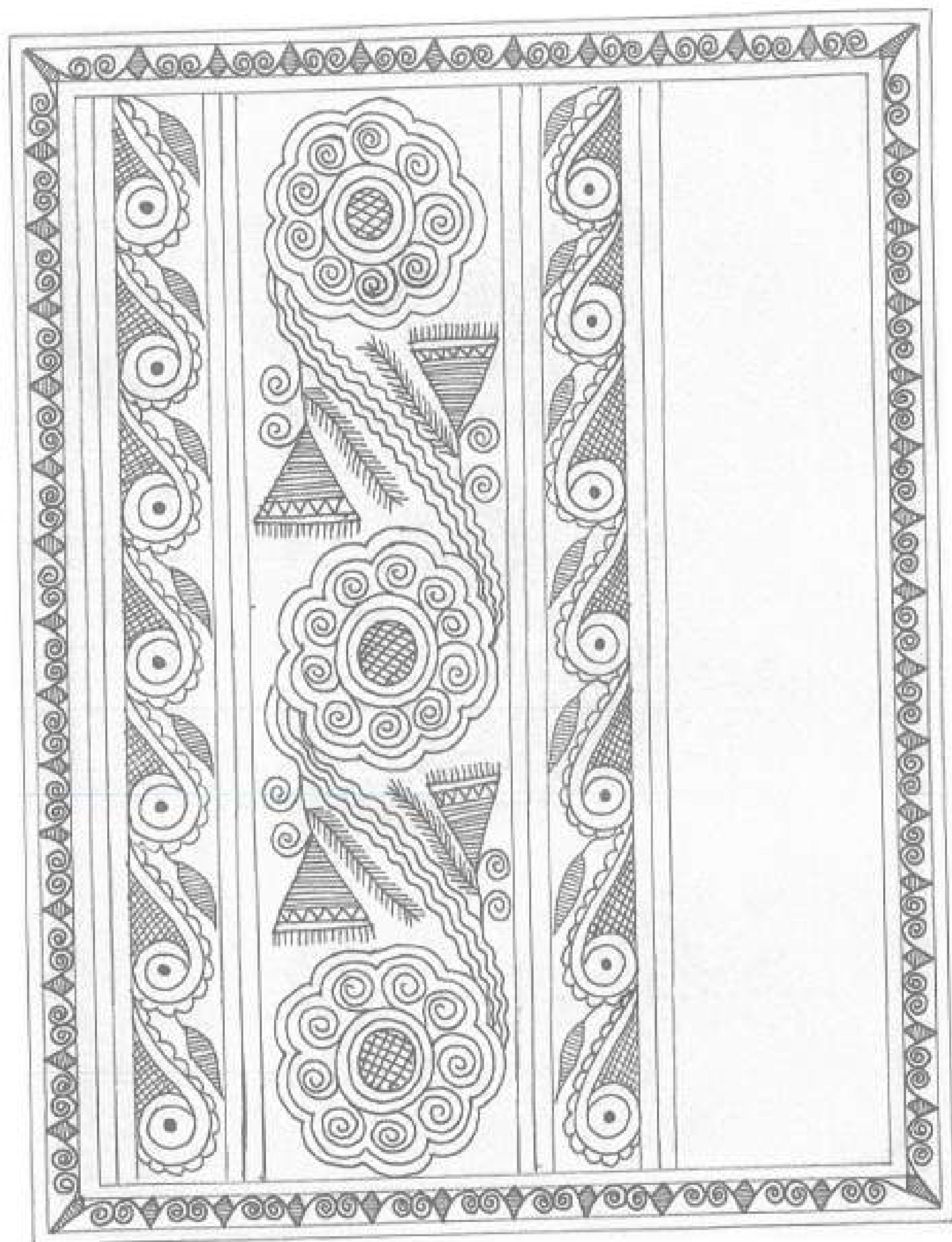


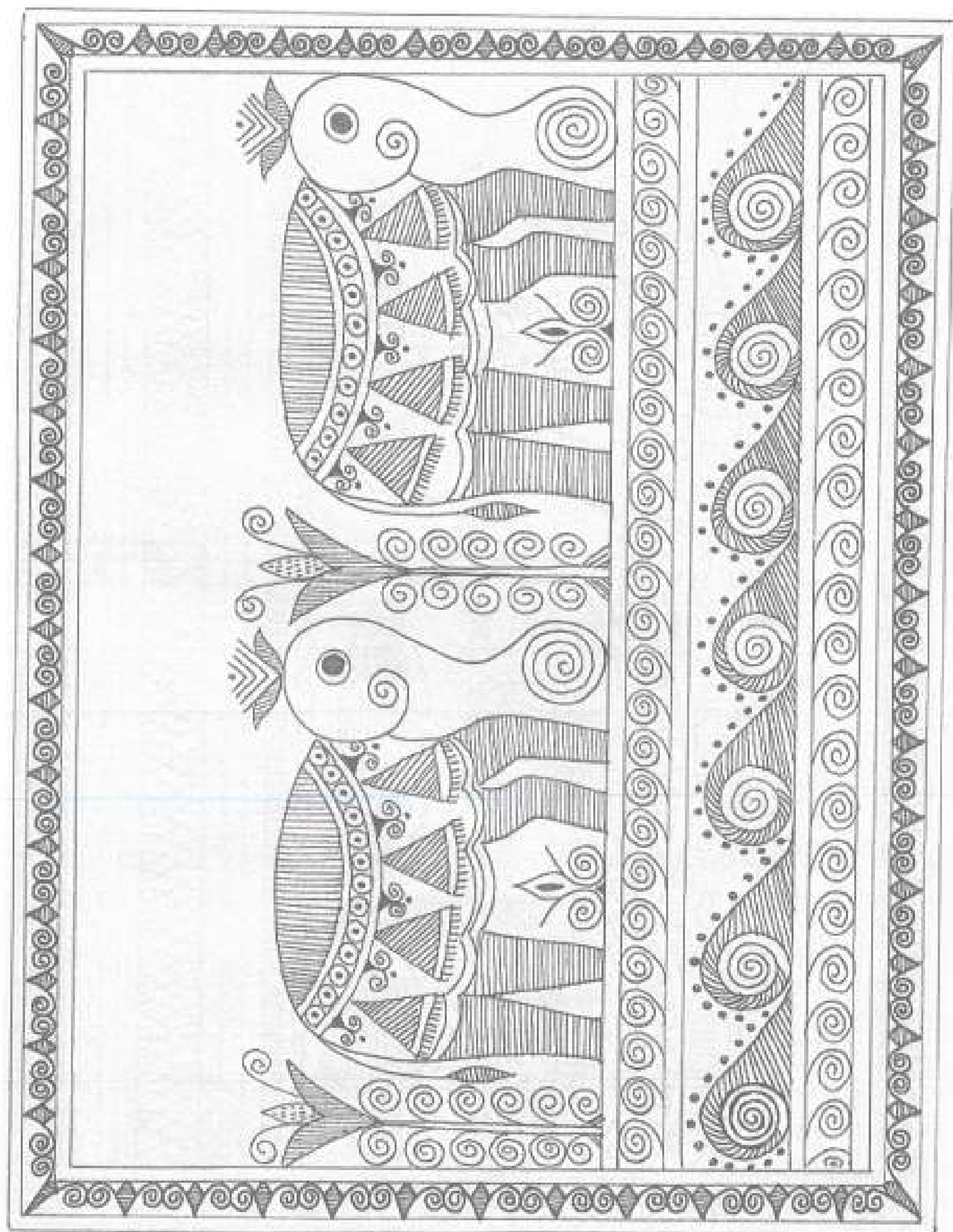


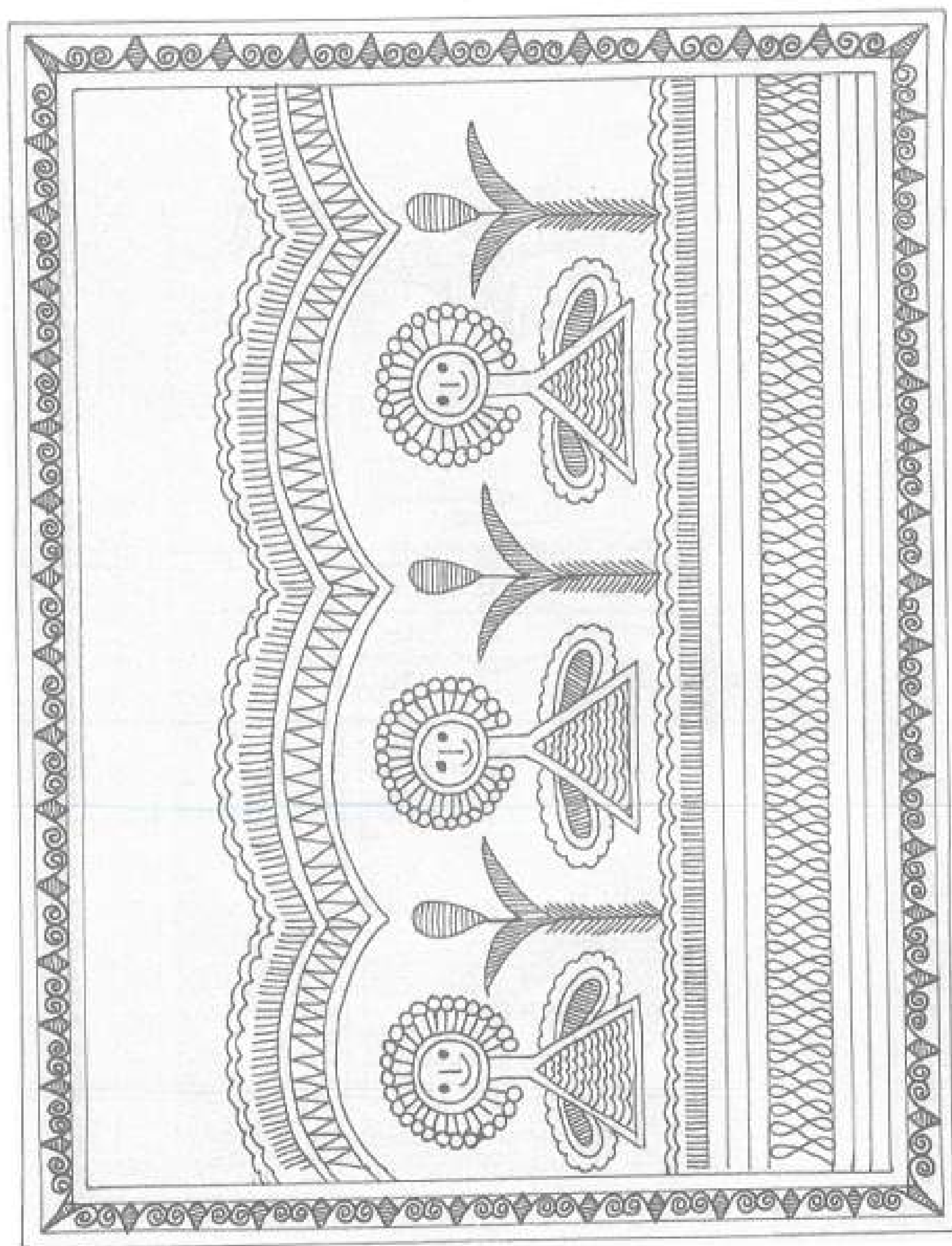


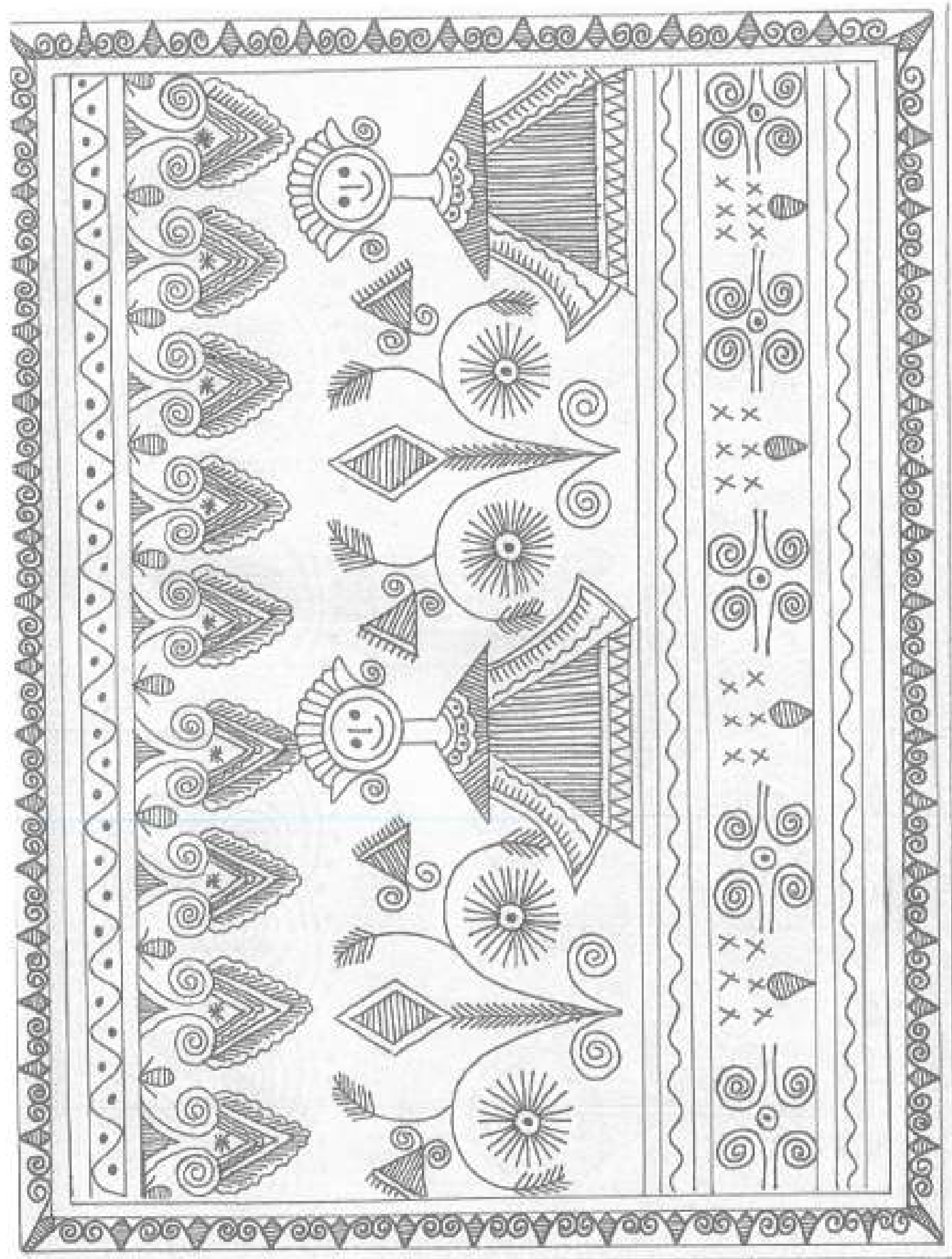


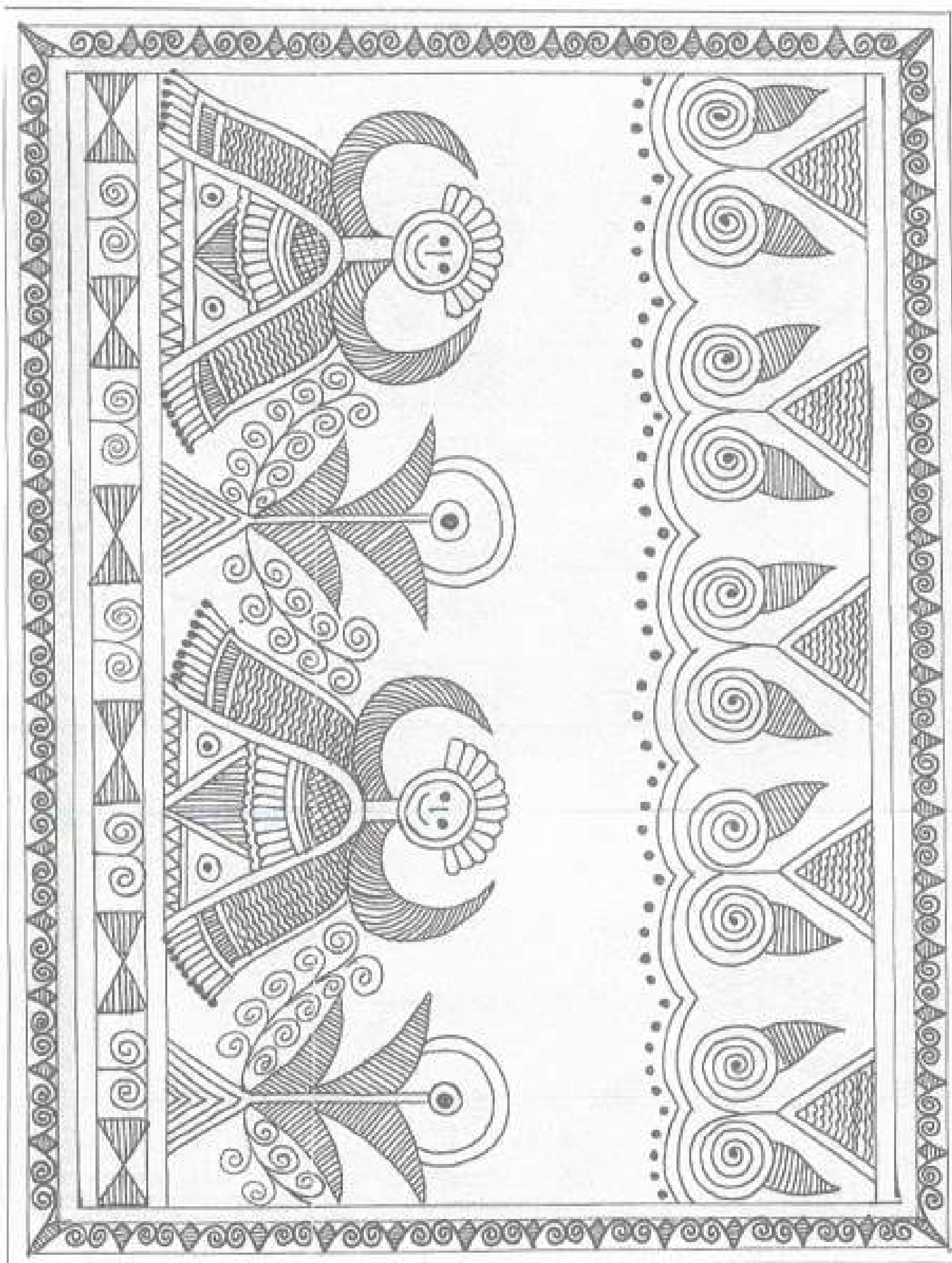




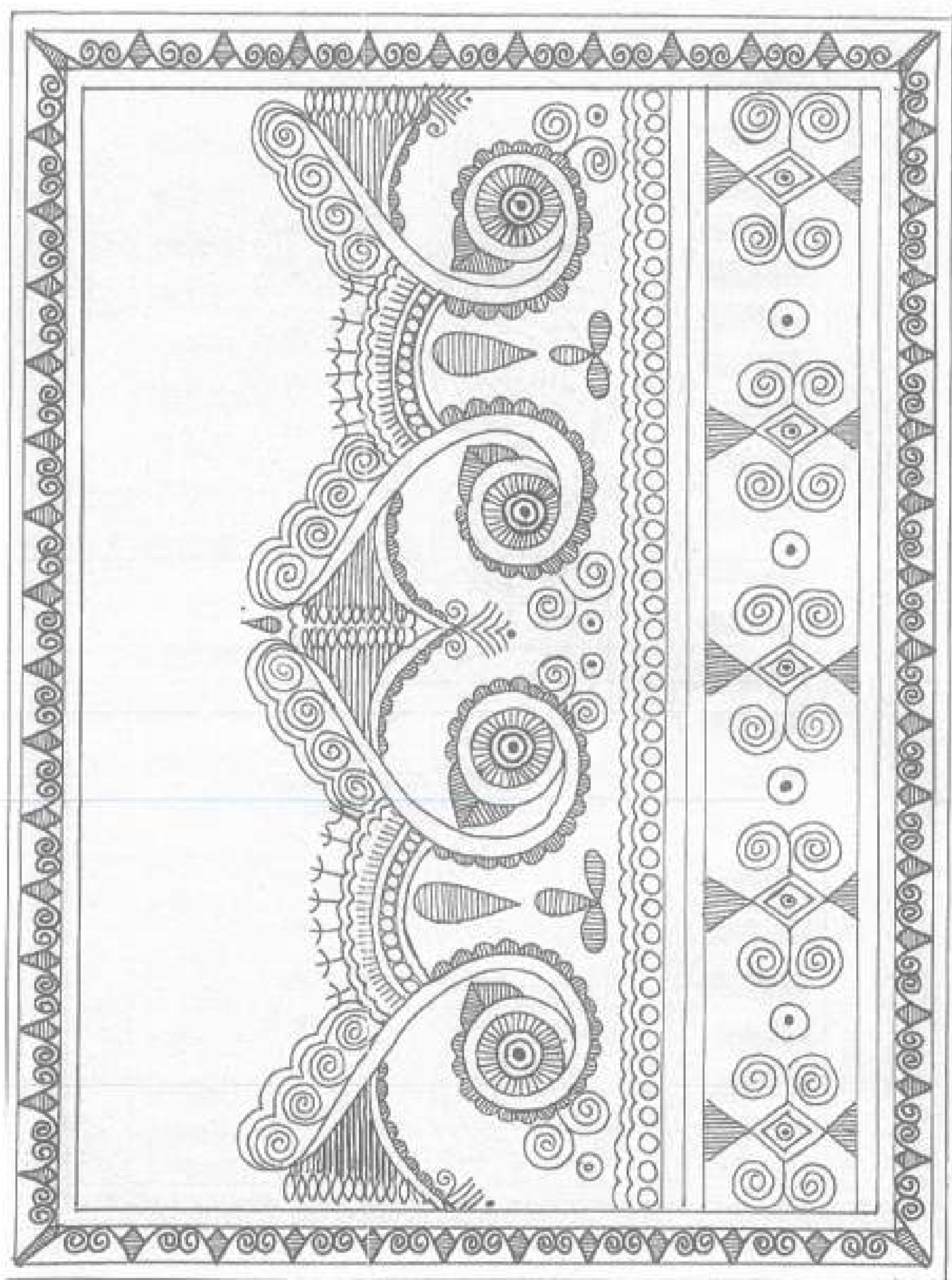


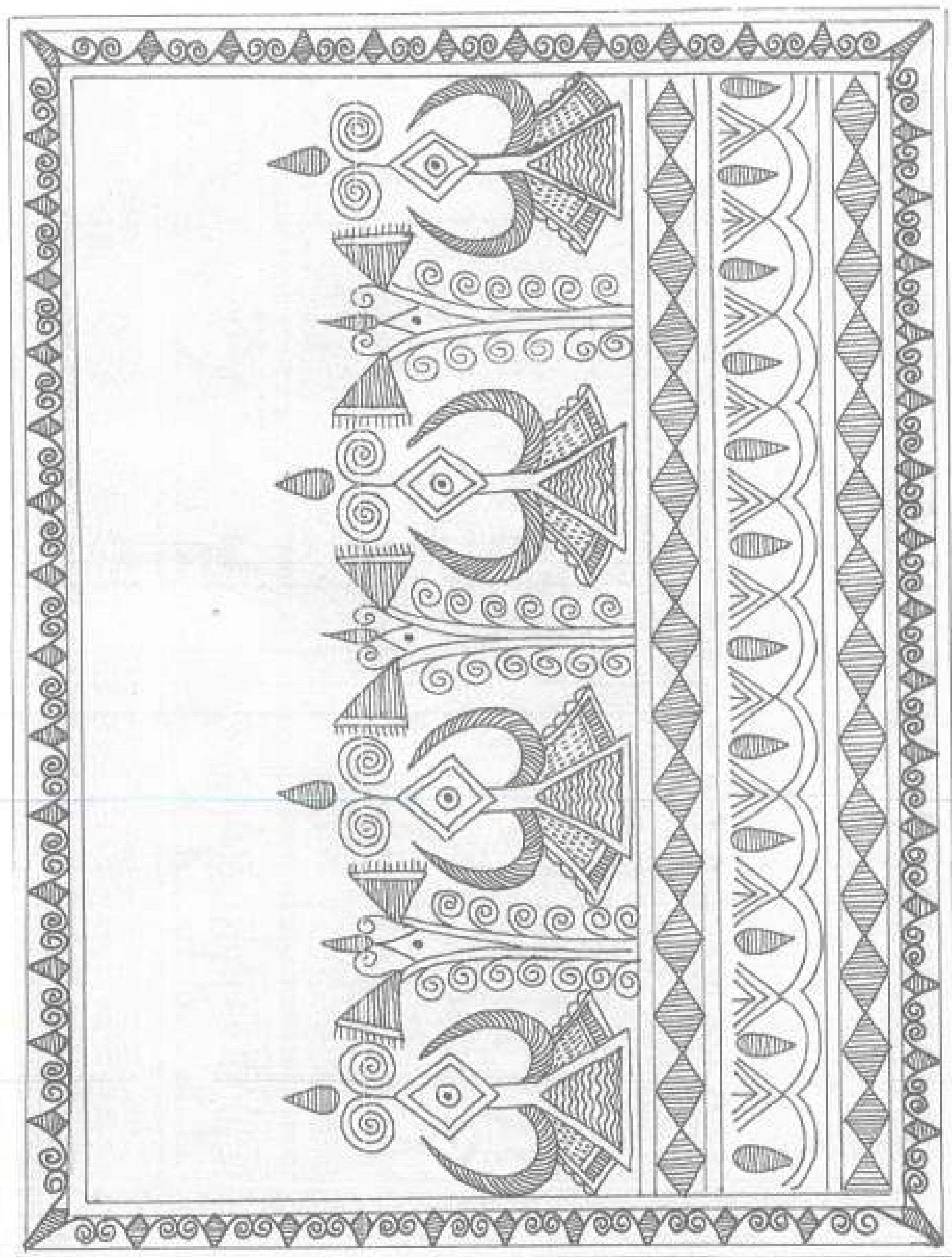


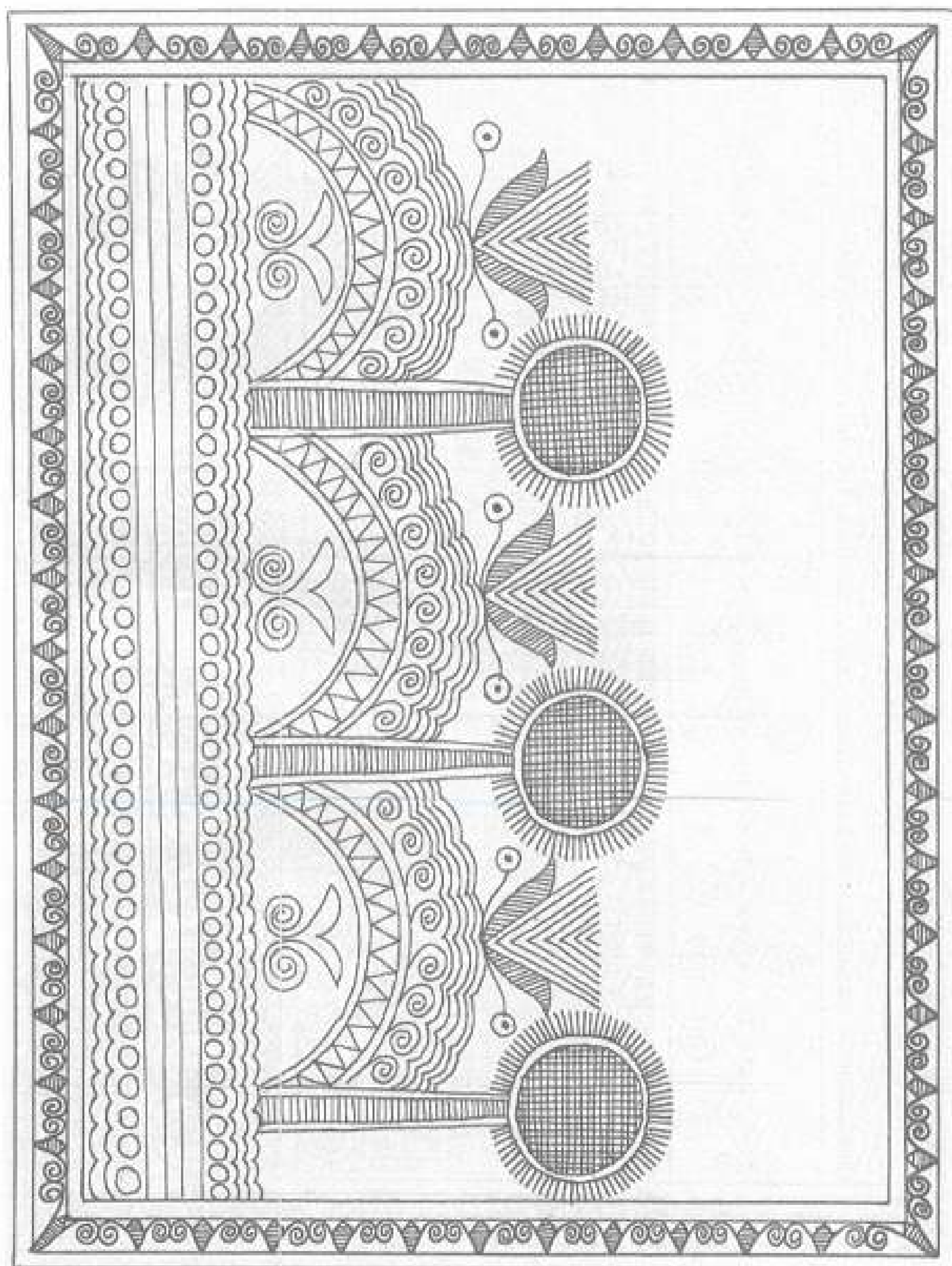


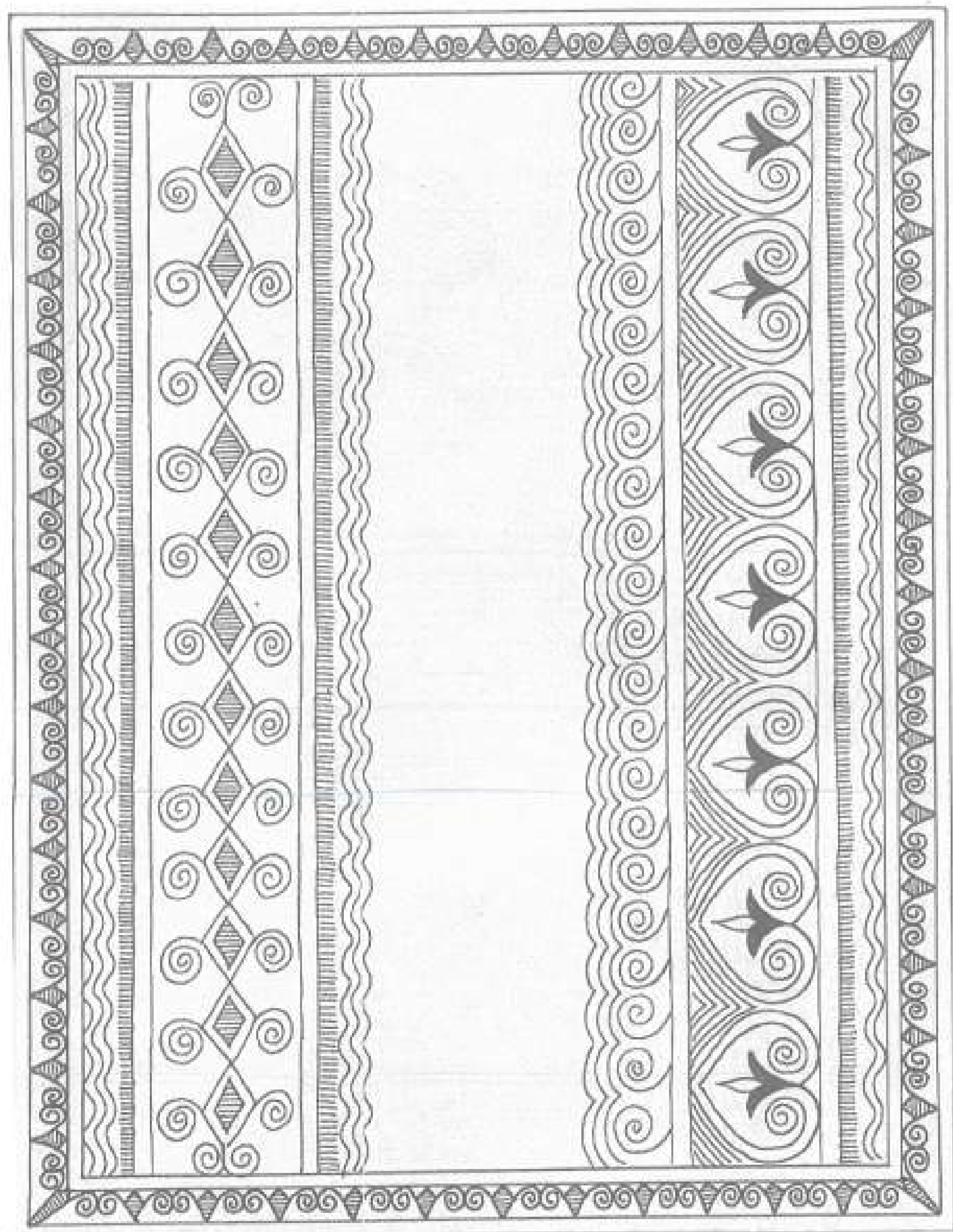


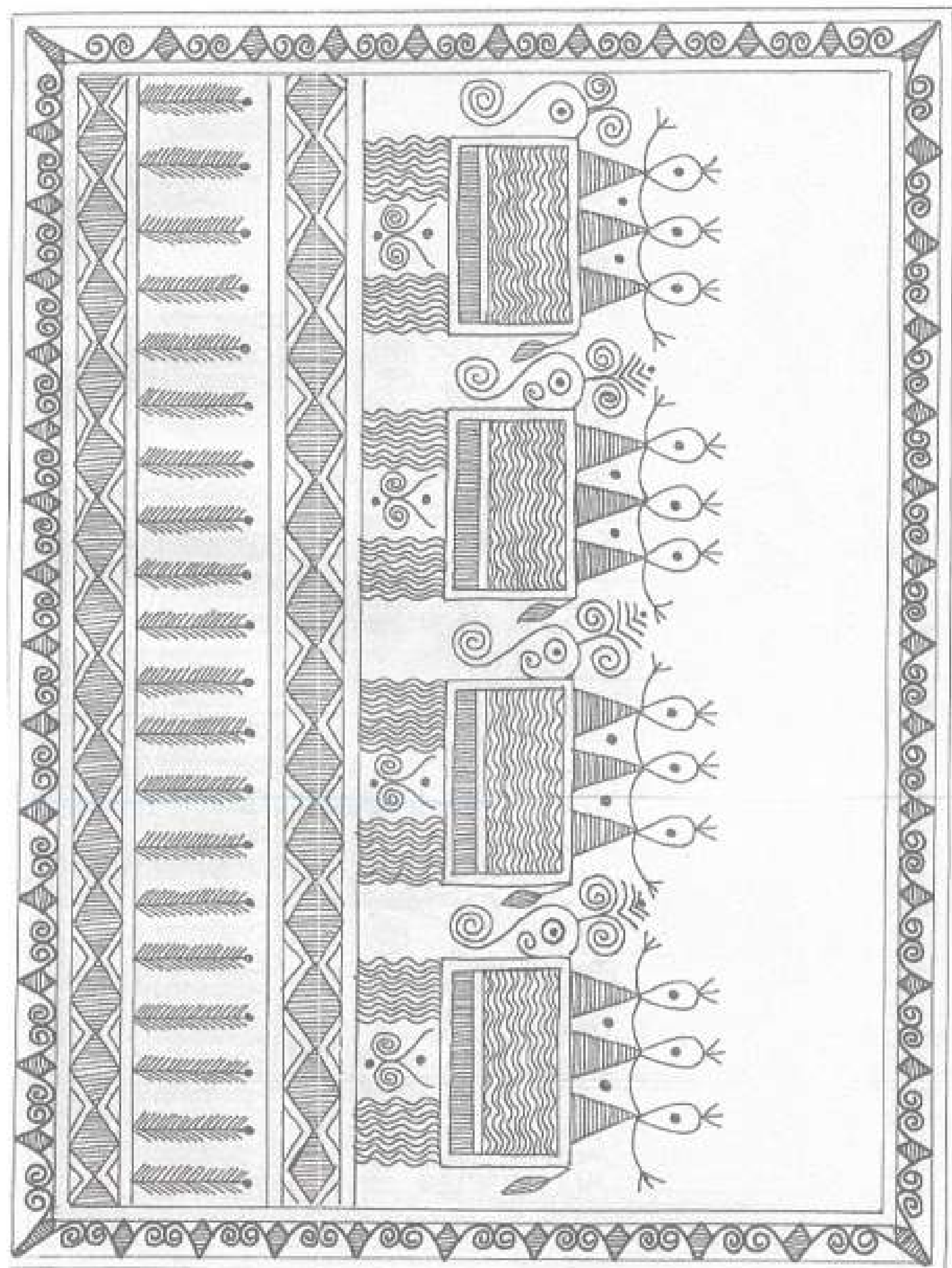


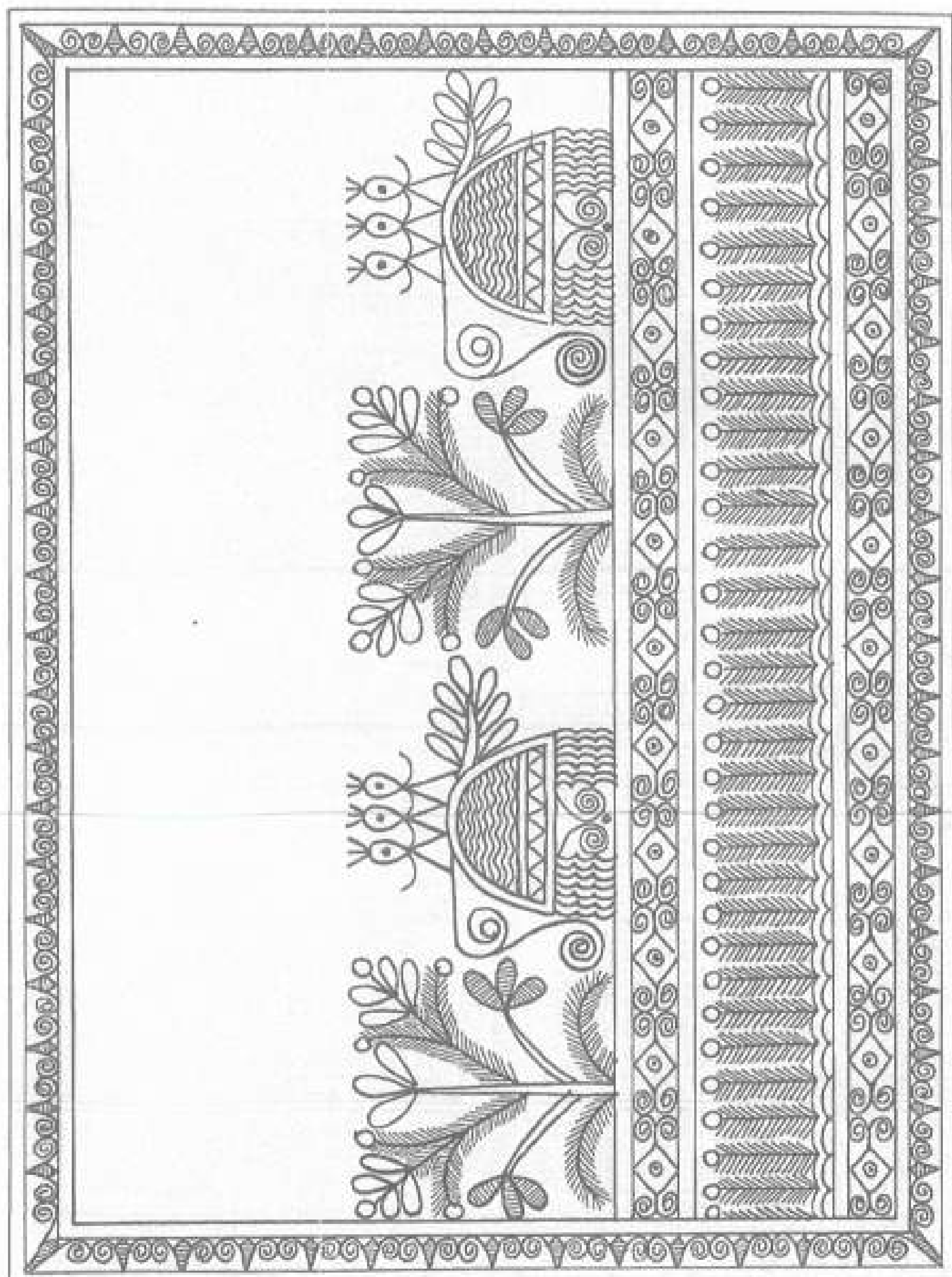


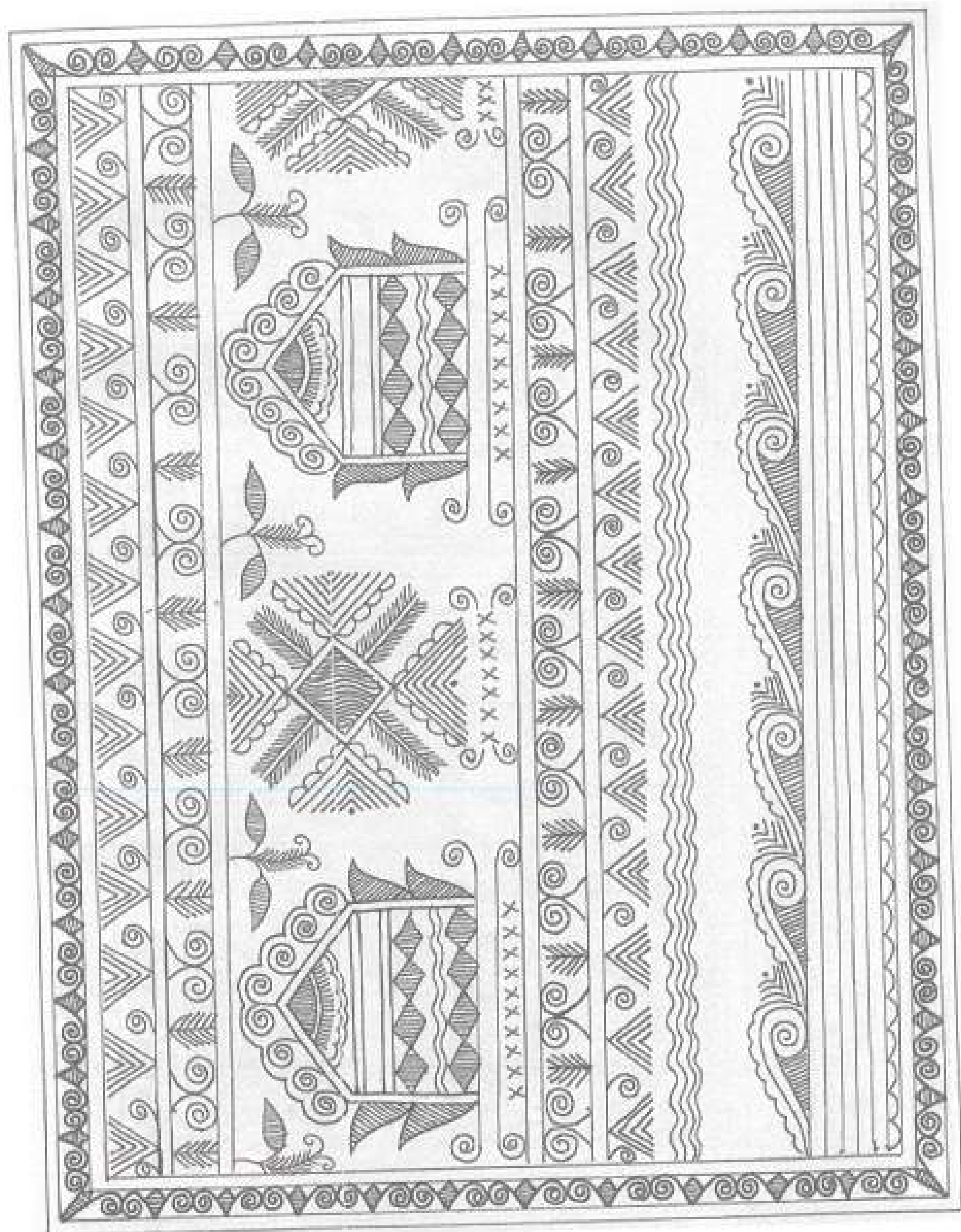


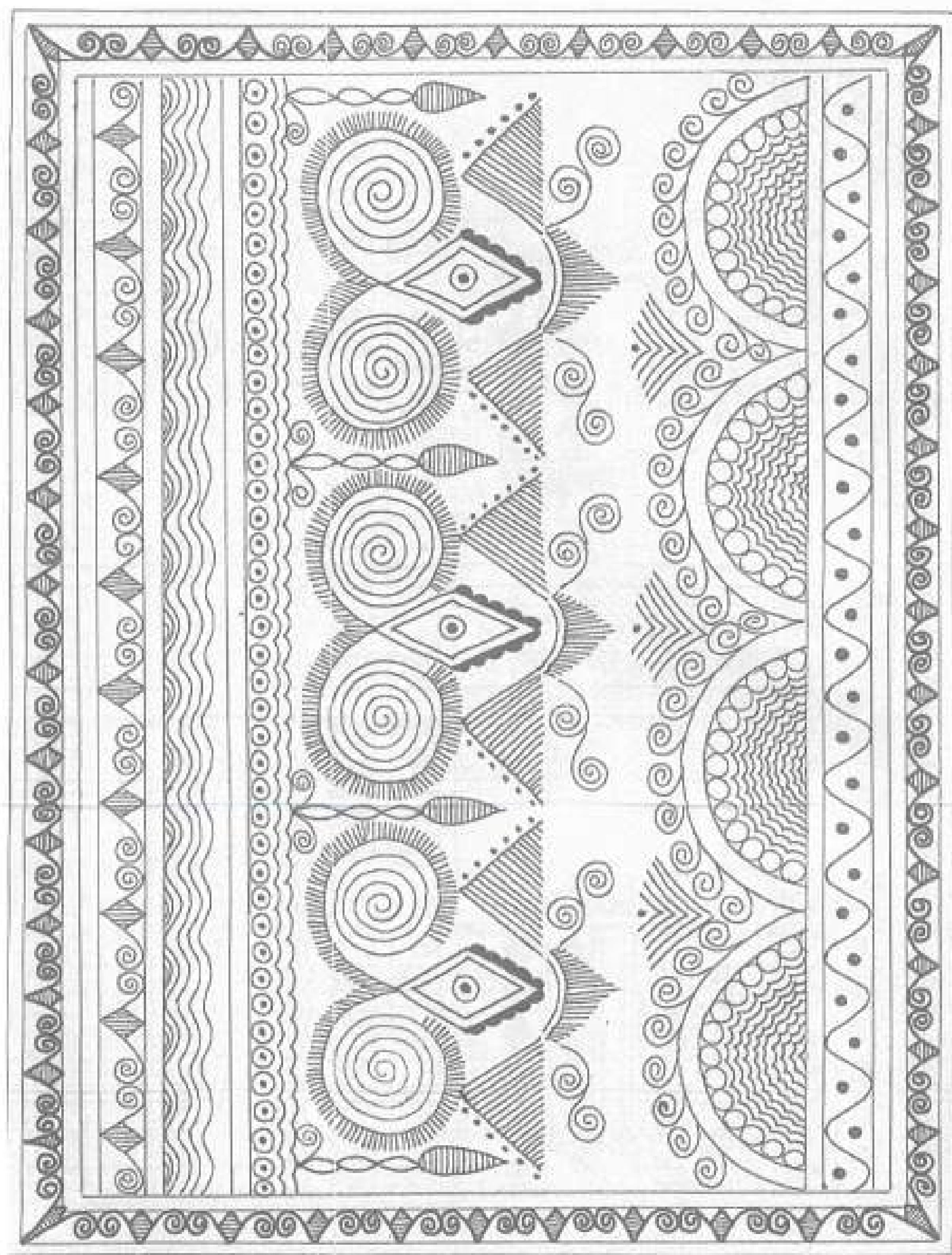












गोदना चित्राकला



























सन्दर्भ–ग्रन्थ, अन्य स्रोत एवं फोटोग्राफ्स

1 Indian Folk Art – Heinz Mode
2 Primitive Peoples Today – Edward Weyer
3 Tribes – Desmond Morris & Peter Marsh
4 गोदना चित्रशैली – के. के. कश्यप (साइक्लोस्टाइल सेस्करण)।

फोटोग्राफ्स

कवर चित्रा – बस्तर की आदिवासीबाला (इन्टरनेट/गूगल)
अफ्रिकी जनजाति के गोदना–देवता/पितर देवता – फोटोग्राफर मित्रा अलेन वॉल्युट, फ्रान्स
शशिबाला वस्त्रांकन करती हुई – फोटो : अंशु गुप्ता, गूँज, नयी दिल्ली
* इस पुस्तक में उपयोग किये गए फोटोग्राफ्स Indian Folk Art, Primitive Peoples Today, Tribes तथा इन्टरनेट से उपलब्ध किये गये हैं। अन्य फोटो स्वयं कश्यप द्वारा खींचे गये हैं।

लेखकद्वय की अन्य प्रकाशित रचनाएँ

1 माछभात, 2 मिथिला चित्रा शिक्षा, भाग–1, 3 मिथिला चित्रा प्रवेशिका,–भाग1/2, 4 मिथिला चित्रा कोर, भाग–3,
5 मिथिला अरिपन, भाग–4,
6 गोदना चित्रा शैली, भाग–5, 7 मैथिली गीतगोविन्द, 8 मेघदूत।



ISBN- 978-81-907267-3-3

Rs. 700/-